पटाक्षेप

पटाक्षेप

मालती जोशी

अपने असंख्य पाठकों के नाम,
जिनके पत्रों ने मुझे निरंतर
लिखते रहने की प्रेरणा दी है।

—मालती जोशी

क्रम

पटाक्षेप

चाय चढ़ाई ही थी कि इन्होंने आकर कहा, "पपा, एक कप पानी और, गौतम साहब आए हैं।"

मैंने पलटकर देखा, किचन के दरवाजे पर खड़े थे वह। सारी खीज, सारी झुंझलाहट चेहरे पर उतर आई थी। मुझे हंसी आ गई। आज बच्चे फंसे हैं जनाब। बेचारे दफ्तर से लौटकर एक प्याली चाय इत्मीनान से पीना चाहते हैं, सो यह भी नसीब नहीं है।

चाय-नाश्ता ट्रे में लगाकर बाहर ले जाते हुए मैंने छवि के कमरे में झांककर कहा, "छवि, गोद की खीझी।"

"जी ?" वह उपन्यास में डूबी हुई थी, हड़बड़ाकर उठ बैठी।

"गौतम साहब आए हैं।" मैंने बताया।

उनका नाम सुनते ही उसका माथा सलवटों से भर जाता था। पर आज उसने बड़े ही सहज स्वर में कहा, "आप उनके पास थोड़ी देर बैठेंगी दीदी, मैं जरा फ्रेश हो लूं।" उसकी आवाज में जरा भी ऊब, जरा भी खीझ नहीं थी। बेचारी उन्हें बर्दाश्त करना सीख गई है, मैंने सोचा।

"और सुनाइए गौतम साहब, क्या हाल-चाल है, इस बार तो बहुत अरसे बाद दर्शन दिए।" मैंने मेज पर चाय-नाश्ता लगाते हुए कहा।

किसी विदेशी बैंक की धोखाधड़ी का किस्सा सुना रहे थे गौतम। उसे

बीच ही में छोड़कर मेरी ओर मुखातिब हुए। दुआ-सलाम के बाद जो शुरू हुए, तो घर की, दफ्तर की, देश की, विदेश की, पता नहीं कितनी खबरें सुना गए।

यह बैठे-बैठे बोर होते रहे। बड़ी मुश्किल से अपनी उबासी रोकते हुए बोले, "छवि को बुलाओ भई, इनका कितना टाइम वेस्ट करोगी। ही इज ए बिजी मैन।"

बड़ी मुश्किल से अपनी हंसी रोककर भीतर आई थी मैं और बंद दरवाजे पर दस्तक देते हुए कहा, "छवि, जल्दी करो। तुम्हारे भाई साहब ऑफ हुए जा रहे हैं।"

"बस दीदी, अभी आयी," उसने कहा और दरवाजा खोल दिया। खुशबू का एक झोंका मुझे सराबोर करता हुआ निकल गया। उसकी धुंध से उबरकर मैंने देखा—बादामी रंग की नेट नॉयलान साड़ी, मैचिंग ब्लाउज और चूड़ियां, ढीला जूड़ा, जूड़े में गुलाब—छवि तो ऐसे संज-संवरकर खड़ी थी जैसे कहीं पार्टी में जाना हो। उसका सलोना रूप सदा की तरह मेरा हीन बोध जाग्रत् कर गया और मेरा ईर्ष्यालु मन कुनमुनाया, 'भला गौतम साहब के लिए इतने बनाव-सिंगार की क्या ज़रूरत थी ?'

"दीदी, पीयूष सो रहा है, उसे तो देख लेंगी न आप ? दूध बनाकर शीशी में भर दिया है मैंने।" उसने अपने लुभावने अन्दाज में कहा और मेरे सारे विकल्प विला गए। फिर से ममतामयी दीदी बन गई मैं और उसे आश्वस्त कर बाहर भेज दिया। सोचा, पहनने-ओढ़ने के यही तो दिन हैं। किसी ज़माने में मैं भी तो दिन में तीन-तीन बार साड़ियां बदलती थी, दर्जनों बार दर्पण में झांककर काजल-बिंदी ठीक कर लिया करती थी। लेकिन अब कोई मुझे देखे—सुन्दर दिखने का कोई उछाह ही नहीं रहा।

और यह सब सोचते हुए पता नहीं कब मैं शीशे के सामने जाकर खड़ी हो गई। अपने टटपूंजिया बालों को किसी तरह समेटकर मैंने जूड़ा बनाया। फिर मुंह-हाथ धोकर कपड़े भी बदल डाले। अपने को संवारने की कोशिश में देर तक शीशे के सामने बैठी रही और वह कम्बख्त चीख-चीखकर कहता

हा, 'छवि बहुत सुंदर है, तुमसे दस गुना, हज़ार गुना सुंदर है।'

एकदम सारा उत्साह जैसे निचुड़ गया। मन एक असहाय क्रोध से उबलने लगा। मेरा गुस्सा हमेशा की तरह सुशील पर आया, जो छवि को ब्याहकर इस घर में लाया है। उसके घर में आते ही मैं एक महत्त्वहीन प्राणी होकर रह गई हूं। लड़कियां, उनके पिता, पास-पड़ोसी—सब जैसे उसीके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। शादी के दो साल बाद भी वह नवेली दुल्हन बनी हुई है। गुस्सा लड़कियों पर भी आया, जिन्हें जन्म देने में, पालने में सारा अस्तित्व ही रसहीन होकर रह गया है। गुस्सा इनपर भी···

"वह भला आदमी तो जमकर बैठ गया है। मुझे ज़रा बाहर जाना था।" यह कब कमरे में आ गए थे, पता ही नहीं चला था।

"जाने में आपको कौन रोक रहा है?" मैंने कसैली आवाज़ में कहा।

"बुरा तो नहीं लगेगा?"

"बुरा लगने की तो कोई बात ही नहीं है। वह कोई आपके लिए थोड़े ही आए हैं।"

"पपा, आई डिस्लाइक दिस टोन," (मुझे यह लहजा पसन्द नहीं है।) उन्होंने ज़रा सख्ती से कहा। मैंने कोई जवाब नहीं दिया, मुंह फैलाए बैठी रही।

"कुछ लाना तो नहीं है बाज़ार से?" इन्होंने खूंटी से कोट उतारते हुए पूछा। मैंने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। यह चुपचाप बाहर निकल गए। कुछ देर बाद ड्राइंग रूम में इनका स्वर सुनाई दिया, "अच्छा गौतम, सी यू अगेन," और फिर सीढ़ियां उतरने की आवाज़ आई—फिर स्कूटर स्टार्ट करने की। सारी आवाज़ें कानों में समेटती हुई मैं चुपचाप वहां बैठी रही, किसी फालतू सामान की तरह।

पीयूष अगर झूले में कुनमुनाता नहीं तो मैं पता नहीं कितनी देर वहां बैठी रहती। उसकी आवाज़ आते ही मैं करीब-करीब दौड़कर छवि के कमरे में पहुंची। शैतान आजकल झूले में कूदने की कोशिश करने लगा है।

अब भी मसहरी से मुंह निकालकर इधर-उधर देख रहा था। मुझे देखते ही किलक पड़ा और हुमसकर मेरी गोद में आ गया। उसे कलेजे से भींच-कर बड़ी देर तक अपना दुलार बरसाती रही, वह भी प्रसन्न भाव से मेरे अत्याचार सहता रहा।

लेकिन सिर्फ प्यार से तो उसका पेट भरने वाला नहीं था। उसने फौरन ही दूध के लिए मचलना प्रारंभ कर दिया। उसे पलंग पर लिटाकर मैंने शीशी उसके मुंह में दे दी। और फिर उसके बाजू में लेट गई। मन इतना तृप्त था जैसे पीयूष शीशी का नहीं, मेरा ही दूध पी रहा है। यह नन्हा-सा प्राणी आते ही घर-भर का, मुहल्ले का एक खिलौना बन गया है। लेकिन मेरी तो जैसे इसने जिंदगी ही बदल दी है। मन करता है, बस चौबीस घंटे उसे कलेजे से लगाए रहूं और पूछूं—मेरे लाला, मेरे छौने, तू इतने दिनों तक कहां छिपकर बैठ गया था।

दूध पिलाकर मैंने उसे तैयार किया। जैसे कोई शरबत धीरे-धीरे सिप किया जाता है। मैं उसे इत्मीनान से तैयार करती रही। आखिर उसके धैर्य का बांध टूट गया और वह सड़क की ओर हाथ फेंकने लगा, तब मुझे अपना तामझाम समेटना ही पड़ा।

"छवि, इसे थोड़ा घुमा लाऊं मैं। दोनों देवियां तो पता नहीं कहां गायब हो गई हैं।" मैंने ड्राइंग रूम में आकर कहा और नीचे उतर आई।

"पप्पू को घुमाने ले जा रही हैं मिसेज कुमार?" मैंने पीछे मुड़कर देखा, मिसेज चंद्रा थैलियों से लदी-फंदी हांफती हुई चली आ रही थीं।

"इसकी मम्मी नहीं आई?" बुरी तरह हांफ रही थीं, पर बोले बिना उन्हें चैन कहां।

"मम्मी पढ़ रही है।" मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"अब की तो मास्टरजी बहुत दिनों बाद आए।" उन्होंने साथ-साथ चलते हुए दूसरा प्रश्न दाग दिया।

"मास्टर जी कौन? ओह, आप शायद गौतम साहब के लिए कह रही

है। इनके दोस्त के छोटे भाई हैं। वह भी किसी नाइट कॉलेज में सोशॉलॉजी में एम० ए० कर रहे हैं। कहीं से अच्छे नोट्स या किताबें मिल जाती हैं, तो दे जाते हैं।" मैंने लम्बी-चौड़ी सफाई दी और फिर लगा, इसकी कोई जरूरत नहीं थी।

"यही तो मैं लड़कियों से कह रही थी। मास्टर तो अपने समय से आता है, समय से जाता है। वह इतनी-इतनी देर बैठता भी नहीं है, इतने-इतने दिन गोल भी नहीं करता। और उसे छोड़ने सारा घर दरवाज़े पर नहीं आता है।"

मैं तो स्तब्ध रह गई। मिसेज चड्ढा की नजर से कोई भी बात छूटती नहीं है। लोग-बाग उन्हें कॉलोनी का 'चौकीदार' कहते हैं। ठीक ही कहते हैं।

मैंने फिर अकारण सफाई देते हुए कहा, "इतना लेट एडमीशन हुआ है इसका, इसलिए जहां से भी हेल्प मिलती है, ले लेते हैं। अक्तूबर में तो इसने कॉलेज ज्वाइन किया है। हमने तो यही सोच लिया था कि इसी बहाने घर से तो निकलेगी। चार हमउम्र लोगों के साथ हँसेगी-बोलेगी तो इसका मन लग जाएगा। आपने देखा तो था, कैसी हो गई थी। दिन-भर कमरे में घुसी रहती थी। न किसीसे हँसना, न बोलना। न ढंग से पहनना-न ओढ़ना।"

"देवर कब लौट रहे हैं आपके?" अगला प्रश्न तैयार ही था।

"अभी तो साल-भर बाकी है। तीन साल के लिए गए हैं न।" उत्तर देते-देते अब मैं ही हांफ चली थी। मार्केट आ गया तब कहीं जाकर मुझे राहत मिली। उन्हें दुकानदारों से उलझता छोड़कर मैंने मार्केट का एक राउंड लिया, कुछ टॉफियां खरीदीं और लौट पड़ी। लौटते हुए उनके साथ आने का साहस मुझमें नहीं था।

लौटते हुए पड़ोस की दो-तीन लड़कियां मिल गई थीं और मैंने राहत की सांस ली। उन लोगों में पीयूष को लेने के लिए होड़-सी मच गई और मुझे हाथ सीधा करने का मौका मिल गया। मोटे-ताज़े बच्चे देखने में तो

अच्छे लगते हैं, लेकिन उठाना पड़े तो भगवान याद आ जाते हैं।

पीयूष अपनी भक्तमंडली में प्रसन्न था और फरमाइशी प्रोग्राम पेश कर रहा था। शुभा-विभा ने, छवि ने उसे कई करतब सिखा रखे हैं। लड़कियां मुग्ध हुई जा रही थीं। तेरह-चौदह साल की लड़कियां थीं वे, उन्हें मुग्ध होने के लिए कुछ भी काफी होता है। 'हाय, कित्ता स्वीट है, न ! हाय, कित्ता इंटेलीजेंट !' से होते हुए बात उसकी मम्मी पर उतर आई। घर पहुंचने तक छवि 'कित्ती स्वीट, कित्ती स्मार्ट, कित्ती ग्रेसफुल' वगैरह विशेषण पा चुकी थी।

अपने घर की ओर मुड़ते हुए जब पीयूष को लिया, तो कितना भारी लगा मुझे वह ! किसी तरह सीढ़ियां चढ़कर मैं ऊपर आई। गैलरी में आकर पता लगा, कविता की जो पंक्तियां हवा में तैरकर मेरे कानों से टकराती रही थीं, उनका उद्गम-स्थान हमारा ड्राइंग रूम ही था। मुझे लगा, शायद छवि रेडियो खोलकर बैठ गई है। ड्राइंग रूम में आकर देखा, कवि महोदय सशरीर ड्राइंग रूम में विराजमान हैं। और उनकी एकमात्र श्रोता बड़ी तमन्यता से रसास्वादन कर रही है।

मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि लौटते हुए मिसेज चन्द्रा मेरे साथ नहीं थीं।

कमरे के वातावरण को गद्यमय बनाते हुए मैंने कहा, "छवि, अपने लाडले को देखो जरा, मुझे किचन में जाने दो, दोनों देवियां लौट आएंगी तो मुझे ही खा जाएंगी।"

कवि और श्रोता दोनों जैसे समाधि से जाग पड़े। भावाभिभूत होकर छवि ने कहा, "कितनी अच्छी कविता लिखते हैं गौतम साहब !"

"लिखता था," कवि ने करेक्शन स्लिप प्रस्तुत की, "कॉलेज के दिनों में बहुत कुछ लिखा था।"

"उस जमाने में तो सभी कवि होते हैं। यह नोन, तेल, लकड़ी का चक्कर चलने के बाद भी जिनकी प्रतिभा शेष रह जाती है, वे ही सच्चे कवि होते हैं," और इस यथार्थवादी घोषणा के साथ मैंने मंच से प्रस्थान

कर दिया।

कविगोष्ठी फिर नहीं जम सकी। क्योंकि कुछ ही देर बाद स्कूटर स्टार्ट होने की आवाज आई। कुछ ही पल बाद छवि किचन में थी। उसकी आंखों में कविताओं की पंक्तियां अब भी तैर रही थीं। उसी भावविह्वल स्वर में बोली, "आपको पता है दीदी, गौतम साहब की लव मैरिज है। साथ ही पढ़ते थे वे दोनों। सारी कविताएं मिसेज गौतम के लिए ही लिखी गई हैं।"

"छवि ! प्लीज जरा साड़ी बदलकर आ जाओ तो चटनी पीस दो। मुझे तो ये बाकी का काम निपटाते ही आठ बज जाएंगे।" कविता-कानन में विचरण करने वाले उसके मन को मैंने निर्ममता से सिल पर पटकते हुए कहा। उसका चेहरा बुझ-सा गया और मुझे अपने-आपपर गुस्सा आने लगा।

आफत की मारी मुन्ना उसी समय मेरे सामने आ खड़ी हुई, "मम्मी, भूख लगी है।"

"भूख तो लगी होगी ही, तभी तो घर की याद आई है," मैंने उसे झिंझोड़ते हुए कहा, "घड़ी देखी है ? यह समय है घर लौटने का ?"

"वे लोग कब से आ गई हैं," छवि ने मिमियाकर कहा, लेकिन तब तक मुन्ना की पीठ पर दो घूंसे पड़ चुके थे और वह सिसकती हुई चली गई थी।

गैस की नीली लपटों को शून्य दृष्टि से देखती हुई मैं देर तक गुमसुम खड़ी रह गई थी।

मेरा अंतर्मन जानता है कि इन प्रश्नों के उत्तर मेरे लिए महत्त्व नहीं रखते, अपनी नरवसनेस को छिपाने का एक साधन-मात्र हैं ये।

"कैसी लगती हैं अब वह?" मैंने अधीर होकर पूछा।

"अरे खूब फैल गई हैं, गर्दन तो नजर ही नहीं आ रही।"

"सच?" और मेरा मन उल्लास से भर गया। मिसेज कश्यप अब उतनी सुन्दर नहीं रहीं, यह जानना कितना सुखद था! एक जमाना था जब मिसेज कश्यप ही नहीं, उनका ड्राइंग रूम, उनके अचार, उनके स्वेटर्स, उनके बच्चे, सभी बातें चर्चा का, प्रशंसा का विषय थीं। कम से कम अब एक प्वाइंट तो उनका कम हुआ।

"सच कह रहे हैं? बहुत मोटी हो गई हैं—मुझसे भी ज्यादा?" मैंने आश्वस्त होने के लिए पुन: पूछा।

"तुम्हें मोटी किसने कह दिया? यू आर ऐज स्लिम ऐण्ड ऐज ब्यूटीफुल ऐज एवर।"

"अब रहने भी दीजिए," मैंने किसी नवोढ़ा की तरह इतराते हुए कहा।

"सच कह रहा हूं भाई! कोई मेरे दिल से पूछे तेरे डीरे-नीचनच्य थीं।"

और मुझे अपनी बाहों में समेटकर उन्होंने बेडस्विच ऑफ कर दिया।

उनकी बांहों का तकिया लिए हुए मैं देर तक तृप्त भाव से लेटी रही। मिसेज कश्यप का नाम लेते ही शंकाओं का एक तूफान-सा उठा था, वह अब शांत हो गया था। सुख की उस चरमावस्था में मन बड़ा तरल हो आता था। मुझे छवि की याद हो आई, मैं यहां प्रिय की बांहों में सुख से लेटी हूं और वह बेचारी ...

३

हौले से मैं विस्तर से उठ आई, वह उसी तरह प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न लेटे रहे। खिड़की का पर्दा सरकाकर मैंने देखा—बगल वाले कमरे की वत्ती का चौकोर प्रतिविव सड़क पर पड़ रहा था, जिसका अर्थ था, छवि अभी जाग रही है। मन करुणार्द्र हो उठा, क्या सुख देखा है वेचारी ने शादी का ! दो महीने लगकर भी तो अपने कलकत्ता वाले घर में रही नहीं। कभी मेरे पास, कभी मां के पास तीज-त्यौहारों के चक्कर में घूमती रही। तव यह पता थोड़े ही था कि सुशील को छह महीने के अन्दर ही विदेश चला जाना होगा। इतने वरिष्ठ लोगों के होते हुए कम्पनी उसे ही जर्मनी में ट्रेनिंग के लिए भेजेगी, खुद उसे भी इसकी आशा कहां थी !

पर इस चांस के मिलते ही दोनों घरों में खुशी की लहर दौड़ गई थी। फॉरिन रिटर्न होने का एक ऐसा शौक सवार था सवपर कि छवि की राय लेना भी जरूरी नहीं समझा गया। उसे चौथा महीना चल रहा था। एक साल तो इसी चक्कर में वीत जाता फिर जहां उसका मन होता, रह लेती।

मइके ससुरे सवहि सुख,
जवहिं जहां मनुमान।

और इसी तरह उसके दिन कट भी रहे थे। पीयूष पांच-छह महीने का था तभी उसकी पीहर से चिट्ठी आई—"दीदी, मेरा यहां ज़रा भी मन नहीं

लग रहा, मुझे सुना लीजिए।"

दूसरे ही दिन वह आगरा जाकर लिवा लाए थे। इतनी दुबली हो गई थी वह! मैंने प्यार से उसकी बलैया लेते हुए कहा था, "अरे, मां के राज में यह हाल हो गया है तेरा, फिर मुझे तो तू पन्द्रह दिन में बदनाम कर देगी।"

"दरअसल दीदी, बहुत बोर हो गई मैं वहां।" उसने कहा, "घर में सबके पास अपना-अपना काम है। सहेलियां अपनी पढ़ाई में मस्त हैं, जिनकी शादी हो गई है, उन्हें अपनी गृहस्थी से फुर्सत नहीं है। छोटी भाभी अपनी नौकरी में व्यस्त है, बड़ी भाभी का बच्चों में ही दिन बीत जाता है। एक मैं ही फालतू नजर आ रही थी वहां।" और वह सूखी हंसी हंस दी। उसकी सारी व्यथा उस हंसी में छलक गई थी।

तब मैंने ही जिद की थी, उसे कॉलेज भेजने की। सुशील उसे मेरे पास छोड़ गया था। वह भी मां-बाप के यहां से मेरे पास अपनी इच्छा से आ गई थी। इस विश्वास को, इस स्नेह को मैं झुठलाना नहीं चाहती थी। कॉलेज जाने लगी थी, तब से उसके चेहरे पर काफी रौनक आ गई थी। फिर भी कभी-कभी वह इतनी निरीह लगती कि दया हो आती।

३

हौले से मैं विस्तर से उठ आई, वह उसी तरह प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न
टे रहे । खिड़की का पर्दा सरकाकर मैंने देखा—वगल वाले कमरे की वत्ती
ा चौकोर प्रतिबिंब सड़क पर पड़ रहा था, जिसका अर्थ था, छवि अभी जाग
रही है । मन करुणार्द्र हो उठा, क्या सुख देखा है वेचारी ने शादी का ! दो
महीने लगकर भी तो अपने कलकत्ता वाले घर में रही नहीं । कभी मेरे पास,
कभी मां के पास तीज-त्यौहारों के चक्कर में घूमती रही । तव यह पता
थोड़े ही था कि सुशील को छह महीने के अन्दर ही विदेश चला जाना होगा।
इतने वरिष्ठ लोगों के होते हुए कम्पनी उसे ही जर्मनी में ट्रेनिंग के लिए
भेजेगी, खुद उसे भी इसकी आशा कहां थी !

पर इस चांस के मिलते ही दोनों घरों में खुशी की लहर दौड़ गई थी ।
फॉरेन रिटर्न होने का एक ऐसा शौक सवार था सवपर कि छवि की राय
लेना भी ज़रूरी नहीं समझा गया । उसे चौथा महीना चल रहा था । एक
साल तो इसी चक्कर में वीत जाता फिर जहां उसका मन होता, रह लेती ।

मइके ससुरे सवहि सुख,
जवहि जहां मनुमान ।

और इसी तरह उसके दिन कट भी रहे थे । पीयूष पांच-छह महीने का
था तभी उसकी पीहर से चिट्ठी आई—"दीदी, मेरा यहां ज़रा भी मन नहीं

लग रहा, मुझे बुला लीजिए।"

दूसरे ही दिन वह आगरा जाकर लिवा लाए थे। इतनी दुबली हो गई थी वह! मैंने प्यार से उसकी बलैया लेते हुए कहा था, "अरे, मां के राज में यह हाल हो गया है तेरा, फिर मुझे तो तू पन्द्रह दिन में बदनाम कर देगी।"

"दरअसल दीदी, बहुत बोर हो गई मैं वहां।" उसने कहा, "पर मैं सबके पास अपना-अपना काम है। सहेलियां अपनी पढ़ाई में मस्त हैं, जिनकी शादी हो गई है, उन्हें अपनी गृहस्थी से फुर्सत नहीं है। छोटी भाभी अपनी नौकरी में व्यस्त हैं, बड़ी भाभी का बच्चों में ही दिन बीत जाता है। एक मैं ही फालतू नजर आ रही थी वहां।" और वह सूखी हंसी हंस दी। उसकी सारी व्यथा उस हंसी में छलक गई थी।

तब मैंने ही जिद की थी, उसे कॉलिज भेजने की। सुशील उसे मेरे पास छोड़ गया था। वह भी मां-बाप के यहां से मेरे पास अपनी इच्छा से आ गई थी। इस विश्वास को, इस स्नेह को मैं झुठलाना नहीं चाहती थी। कॉलिज जाने लगी थी, तब से उसके चेहरे पर काफी रौनक आ गई थी। फिर भी कभी-कभी वह इतनी निरीह लगती कि दया हो आती।

४

शाम की बात याद करके मन कैसा तो हो गया ! बरामदे में आकर मैंने धीरे से उसके कमरे का दरवाजा ठेला । वह खुला ही था । एक पलंग पर शुभा, विभा एक-दूसरे के गले में बांहें डालकर सो रही थीं । दूसरे पलंग पर लेटी छवि कुछ पढ़ रही थी । मैंने दूर से ही पहचान लिया, वह गौतम की डायरी थी ।

"दीदी, आप !" वह चौंककर उठ बैठी ।

"सोई नहीं रे अभी तक, बारह बज रहे हैं ।"

"बाप रे, मुझे तो पता ही नहीं चला । बैठिए न ।" मेरे लिए जगह बनाते हुए उसने कहा ।

"इतनी अच्छी कविताएं हैं क्या ? जरा देखूं ।"

डायरी खोलकर देखा, पहले ही पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था—'हेमा के कुसुम कोमल करों में प्रणय का यह पुष्प सस्नेह समर्पित ।'

कविताएं कुछ खास नहीं थीं । उम्र के उस दौर में सभी लोग कविताएं लिखते हैं । जो नहीं लिख पाते वे पढ़ते हैं, बीस-इक्कीस वर्ष की भावुक उम्र थी, तभी तो छवि बारह बजे रात तक उन फटीचर कविताओं का रसग्रहण करती रही थी ।

"बड़ी किस्मतवाली हैं मिसेज गौतम, जिनके लिए इतने प्यारे गीत लि

गए हैं।" मैंने कॉपी को उलट-पलट करते हुए कहा।

"हां दीदी, लेकिन अब ये पहले वाली मिसेज गौतम कहां रह गई हैं।"

"कैसे रहेंगी भला! तीन-तीन बच्चों को जन्म देने के बाद औरत क्या वही रह जाती है! और ये तो शायद सर्विस में भी है कहीं। छवि! सुंदर दिखने के लिए भी सुविधा चाहिए।"

"दीदी, मैं सुंदरता की बात नहीं कर रही थी। मेरा मतलब है अब उनमें पहले की-सी अंडरस्टैंडिंग नहीं है। बहुत बदल गई हैं वह।"

"और यह बात तुम्हें मि० गौतम ने बतलाई है! छिः, इस तरह भी कोई अपने घर की बात हर कहीं कहता फिरता है।" मैंने कहा।

"हर किसीसे तो नहीं कहता, पर जहां थोड़ी-बहुत सहानुभूति मिलती है वहां तो बात जुबान पर आ ही जाती है।"

सहानुभूति! मैंने छवि को ध्यान से देखा। इसे गौतम से सहानुभूति कब से हो गई? अभी कल तक तो उन्हें 'गोद की पोनी' और 'मिस्टर गणेश' जैसे उपनाम देती रही है यह, उनकी ऐसी-ऐसी नकल उतारती थी कि बच्चे हंसते-हंसते लोटपोट हो जाते, बल्कि मुझे ही डांटना पड़ता था।

डायरी के पन्ने पलटते हुए मैं अंतिम पृष्ठ तक आ पहुंची थी। रचना शायद ताजा ही थी, क्योंकि अक्षर और स्याही दोनों ही बदले-बदले-से थे, और मजमून भी :

> सहरा-ए-ज़िन्दगी में ठंडी बयार-सी तुम
> उजड़े हुए चमन में फस्ले-बहार-सी तुम।
> तुम कौन हो, कहां से आकर बरस गई हो,
> जलते हुए जिगर पर भीनी फुहार-सी तुम।

उर्दू कविता का मेरा ज्ञान बहुत मामूली-सा है, पर इतना समझ में आ गया कि इसी कविता के लिए छवि को कॉपी दी गई है। पता नहीं, उसकी निगाह उसपर पड़ी भी है या नहीं। मन हुआ चुपके से वह पेज फाड़ दूं। लेकिन कागज तो कागज है, दोबारा भी लिखा जा सकता है।

५

रात-भर करवटें बदलती रही मैं। गौतम की कविताएं जैसी भी थीं, मेरे अतीत को कुरेद गई थीं, स्मृति-पटल पर अपने लिखे कई गीत नाच उठे थे। उन गीतों में क्या नहीं था—प्यार का सागर, आंसुओं की नदी, लगन की डोर, सपनों का झूला, आशा की डगर, कामना का नगर—किशोर कल्पनाओं का सम्पूर्ण संसार उन कविताओं में था।

स्वांत:सुखाय ही थी वह काव्य साधना। मां का आतंक था ही इतना ज़बरदस्त। फिर भी पता नहीं कैसे एक दिन मेरी कॉपी उनके हाथ पड़ गई थी; और मेरे देखते-देखते मेरे गीत अग्नि की भेंट चढ़ गए थे। उस आग में सिर्फ कविताएं ही नहीं जली थीं, मन की अमराई भी झुलस गई थी। वसंत कितने ही दिनों तक वहां आने से कतराता रहा था।

मां की आग्नेय दृष्टि से इतनी सहम गई थी मैं कि उस दिन रो भी नहीं पाई थी। आज वही रुलाई अपने समस्त आवेग के साथ फूट पड़ी थी। दुनिया में ऐसी लड़कियां भी हैं, जिनपर कविताएं लिखी जाती हैं, और मुझ जैसी भाग्यहीना भी है, जिसकी कोमल कल्पनाओं का निर्ममता से गला घोंट दिया गया था। पता नहीं दुनिया का हर अन्याय मेरे ही हिस्से में क्यों आता है? इतनी इच्छा हुई कि एक बार फिर उसी उम्र में लौट जाऊं और जी खोलकर अपने गीत, अपनी कविताएं गाऊं, फिर से पुकारूं अपने जाने-

अनजाने प्रियतम को।

अगले दो-चार दिनों में मेरे पास बस यही काम था। जब भी समय मिलता, कॉपी लेकर बैठ जाती और कविताओं की भूली-बिसरी पंक्तियां जोड़-तोड़कर लिखती रहती। आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि दो-चार गीत पूरे के पूरे याद आ गए। शायद अंतर्मन की किसी अंधेरी गुफा में दुबक-कर बैठे हुए ये गीत बाहर आने की बाट जोह रहे थे।

अगली बार जब गौतम आए, तो मुझे अपनी कॉपी की याद हो आई। तीव्र इच्छा हुई कि उन्हें बता दूं कि चाय-नाश्ते के परे भी मेरा कुछ अस्तित्व है। छवि की कॉपियों और पुस्तकों की उपेक्षा करते हुए मैं जमकर वहीं बैठ गई। अपने काव्यपाठ की प्रस्तावना-सी करते हुए मैंने कहा, "आपकी कविताएं हमने पढ़ी थीं, गौतम साहब। सच, बहुत ही भावपूर्ण रचनाएं हैं।"

वे 'हें हें' करके हंस दिए। शायद उन्हें आने वाले संकट की कल्पना न थी।

"कुछ गीत हमने भी लिखे हैं। सुनेंगे आप?" और उनकी सम्मति की परवाह किए बिना मैं अपनी कॉपी उठा लाई और तरन्नुम में सुनाने लगी।

अपनी ऊब और खीझ को किसी तरह दबाते हुए गौतम कविताएं सुनते रहे। दाद देते रहे और घड़ी देखते रहे। दूसरा गीत समाप्त कर मैंने उनकी राय जानने के लिए सिर उठाया, तो देखा वह खड़े हो गए हैं।

"कविताओं में ऐसा खो गया भाभीजी, कि याद ही नहीं रहा—रात एक जगह डिनर पर भी जाना है।" उन्होंने क्षमायाचना के स्वर में कहा, अपना ब्रीफकेस उठाया और सीढ़ियां उतर गए।

छवि पता नहीं कब उठकर भीतर चली गई थी। स्कूटर की आवाज सुनते ही दौड़ी आई, "यह क्या, गौतम साहब चले गए? आज इतनी जल्दी?"

"जाते कैसे नहीं!" मैंने सूखी हंसी हंसते हुए कहा, "संसार में ऐसा

वि हुआ है आज तक जो चुपचाप बैठा दूसरों की कविताएं सुनता रहे!
चारे दस मिनट में ही मैदान छोड़कर भाग गए।"

अपने इस विनोद पर मैं खुद ही हंसती रही, छवि ने साथ नहीं दिया।

"मैं चाय बना रही थी।" उसने अस्फुट स्वर में कहा।

"तो बना लो न! तुम्हारे भाई साहब आते ही होंगे। मेरे हाथ की चाय पीते-पीते बोर हो गए होंगे, थोड़ा चेंज हो जाएगा।"

न चाहते हुए भी मेरे स्वर में व्यंग्य की धार आ गई थी। गौतम ने मेरा काव्यपाठ पूरा नहीं सुना था, इसका मुझे दुःख नहीं था। पर छवि तो वहां बैठ सकती थी। आज ही चाय बनाने का कर्त्तव्य उसे क्यों याद आ गया? इतनी घटिया थीं मेरी कविताएं कि सुनी भी न जा सकें? क्या गौतम की कविताओं से भी ज्यादा ऊल-जलूल थीं?

कविताओं की कॉपी जलाने के लिए इस बार मां को नहीं आना पड़ा, मैंने ही वह काम कर दिया।

६

रविवार की उस दोपहरी में घर एकदम सुनसान था। विधानसभा का सत्र एकदम सिर पर आ गया था, इसलिए खाना खाकर यह सचिवालय चले गए थे। छवि लड़कियों को पिक्चर दिखाने ले गई थी। घर में केवल मैं और पीयूष दो ही थे। समय काटे नहीं कट रहा था।

वल्लभ भवन से यह लौटे तब पांच बज रहे थे। आते ही बोले, "बड़ा सूना-सूना लग रहा है। कहां गए सब लोग?"

"पिक्चर।"

"और तुम क्या यहां बेबी सिटिंग कर रही हो? तुम क्यों नहीं चली गईं?"

"वे लोग तो संडे मनाने गई हैं। मेरे लिए तो हफ्ते के सब दिन बराबर हैं।" मैंने खीझकर कहा।

"अरे, अरे, यह तो नाराज होने वाली बात हुई। चलो तुम्हें भी पिक्चर दिखा लाएं।"

"पिक्चर रहने दीजिए, घुमा लाएं तो वही बहुत है। हम तो उसके लिए भी तरस गए हैं।" मैंने मुंह फुलाकर कहा।

"जो हुक्म करो सरकार।" इन्होंने नाटकीय अंदाज में कहा और मेरा सारा गुस्सा उड़नछू। कुछ ही देर में तैयार होकर हम लोग निकल पड़े।

स्कूटर पर बैठते हुए याद आया, कितने दिनों बाद हम लोग घूमने नि
हैं। छवि के आने के बाद से निकलना हुआ ही नहीं। एक संकोच-सा
है। उसके अकेले होने का अहसास रात में एकांत में भी पीछा नहीं छो

न्यू मार्केट में उतरकर हम लोगों ने छिटपुट शॉपिंग की और
हाउस चले आए। रविवारीय भीड़ को चीरते हुए जब मैं ऊपर च
थी, तब लड़कियों की याद हो आई। कॉफी हाउस आने का इतना शौ
दोनों को। महीने में एकाध बार तो यह हमें ले ही आते थे। तब शा
खाना यहीं होता था, अब तो अर्से के बाद आना हुआ है।

भीड़ तो थी, पर सौभाग्य से कोने वाली एक मेज़ हमें मिल गई
बार वहां इत्मीनान से बैठ जाने के बाद मैंने पीयूष की ओर ध्यान दि
उसने मेरी सारी मेहनत पर पानी फेर दिया था। हवा में उड़ने से
बालों का सिर पर एक टोप-सा हो गया था। काजल सारा फैल ग
और दोनों मुट्ठियों से आंखें मसलकर उसने हाथ भी काले कर लि
मैंने पर्स से रूमाल और बेबी पाउडर निकाला और उसे फिर से स
लगी। यह मनोयोग से मुझे देखते रहे।

"पद्मा ?"

मैंने भौंहें ऊपर उठाईं।

"कभी-कभी इस छोकरे से बहुत रश्क होता है।"

"क्यों भला ?"

"तुम जितना लाड़-दुलार इसका करती हो, जितना प्यार इसे दे
इसका सौवां हिस्सा भी मुझे मिल जाता, तो मैं अपने को धन्य समझत

"अब आप ऐसी ऊटपटांग बातें करेंगे, तो मैं उठकर चली जाऊं

"अरे, तुम तो नाराज़ होने लगती हो। मैं झूठ नहीं कह रहा
भी कहती है।"

"क्या ?"

"कि पीयूष के आने से मम्मी का चिड़चिड़ापन बहुत कम
है।"

एक बहुत तीखा-सा जवाब मेरे होंठों तक आया था, लेकिन उसी समय किसी परिचित आवाज को सुन मेरे कान खड़े हो गए।

"सुनिए, यह विभा की आवाज नहीं लग रही आपको?"

"तुम्हारा भी जवाब नहीं है पद्मा। तुम्हें तो हर जगह अपनी राजकुमारियां ही नजर आती हैं। भगवान के लिए अब बोर मत करो। लड़कियों की फिक्र छोड़ो और इस लड़के की ओर देखो। पट्ठा पूरे का पूरा दोसा उठाने की फिक्र में है।"

मैंने आज्ञाकारी पत्नी की तरह ध्यान प्लेट की ओर केंद्रित किया। कुछ ही मिनट बीते होंगे और बगल वाले कमरे में हंसी का फव्वारा छूटा। उसमें छवि की खनकती हंसी बिलकुल साफ सुनाई दे रही थी। उस हंसी को बहुत दिनों बाद सुना था, शायद सुशील के जाने के बाद पहली बार।

इस बार मैंने उनसे कुछ नहीं कहा। मैं उठी और सारे एटीकेट्स को तिलांजलि देकर बाहर वाले छोटे कमरे में झांका। मेरा अंदाज गलत नहीं था। छवि और विभा तथा गौतम और शुभा आमने-सामने सोफों पर बैठे थे। बीच वाली मेज पर ढेर सारी प्लेटें पड़ी थीं।

"अरे आप?" सब लोगों ने मुझे एकसाथ देखा।

"यही तो मैं भी सोच रही हूं। आप लोग यहां कैसे?"

"हम लोग रंगमहल से निकले थे कि आप मिल गए। हमें जबरदस्ती यहां ले आए, माने ही नहीं।" छवि ने सफाई पेश की।

"मामीजी, आप भी कंपनी दीजिए न?" गौतम साहब इतनी देर बाद फूटे।

"आप क्या समझ रहे हैं, मैं अकेली ही आई हूं यहां? नहीं भाई, अपनी कंपनी तो अपने साथ है।"

"तो भाई साहब को भी बुला लेते हैं न यहां। काफी जगह तो है।"

"नो, नो, डोंट डिस्टर्ब योरसेल्फ," मैंने सख्ती से कहा और अबाउट टर्न कर गई।

यह परेशान से इधर-उधर देख रहे थे। मुझे देखते ही झुंझला पड़े,

वालों की डांट खाते थे। कड़की के दिनों में एम०जी० रोड या नेहरू पार्क से भी जी बहला लेते थे। उनके साथ हर जगह अच्छी लगने लगती थी। उनकी बोलचाल, उनकी वेशभूषा सबका अपना आकर्षण था। उन दिनों शेखर दा मेरे आदर्श पुरुष थे। (शायद वे एकमात्र पुरुष थे जिनके संपर्क में आने का मुझे अवसर मिला था।)

उनके किस्से बड़े मजेदार होते थे। और ठहाके जानदार। हम दोनों बहनें मुग्ध श्रोताओं की भूमिका अदा करती थीं। अपनी गुफा संस्कृति का कुछ ऐसा प्रभाव था कि वक्त पर कोई बात सूझती ही नहीं थी। कभी-कभी कोई मज़ेदार लतीफा अश्लीलता की सीमा को छूने लगता था, सारी मंडली हो-हो करके हंस पड़ती। हम लोग सिर्फ मुस्कराकर रह जातीं। तब शेखर दा नाटकीय अंदाज़ में कहते, "ए लड़कियो, ज़रा अपनी खोल से बाहर आओ, ज़रा खुले में उड़ना सीखो। किस युग में जी रही हो! इस कस्बाई मनोवृत्ति को छोड़ो और जरा खुलकर सांस लेना सीखो।"

कस्बाई मनोवृत्ति उनका प्रिय शब्द था जो मुझे गाली-सा लगता, मैं तिलमिला उठती थी। उनके अभिनय पर सारी मंडली एक बार फिर खिल-खिलाकर हंस पड़ती थी। शर्म और अपमान से मेरे आंसू निकल आते।

"पदम! रो रही हो तुम! क्या हो गया तुम्हें? क्या मैंने कोई बहुत कड़ी बात कह दी! आई ऐम वेरी सॉरी। रियली आई ऐम..."

मैंने सिर उठाकर देखा, मेरा तकिया आंसुओं से भीग गया था। घड़ी रात के तीन बजा रही थी, और यह प्यार से मेरी पीठ पर, माथे पर हाथ फेर रहे थे। उनके स्वर में व्यग्रता थी और आंखों से स्नेह छलका पड़ रहा था।

कभी-कभी सोचती हूं—यह इतने अच्छे क्यों हैं?

ें तो परेशान हो गई हूं इनकी वॉचिंग से दीदी।" छवि एकदम फट
़र लड़का इनकी नज़र में आवारा है। सब प्रोफ़ेसर्स बदमाश हैं।
भी बात करो, उपदेश देने लगते हैं।"
ो फटकार क्यों नहीं देती एक बार? कहो कि अपनी हद में

ने एक बार असहाय आंखों से मेरी ओर देखा। होंठ कुछ कहने के
ड़ाए, फिर एकाएक उठकर वह अंदर चली गई।
ा खाते हुए मुझे याद आया, मैंने छवि से कहा, "सुनील का पत्र
तुम्हारी दराज़ में रख दिया है।"
सी निर्लिप्तता से चावल-दाल मिलाती रही। न उसकी आंखों

मुझसे कहानी का जिक्र भी नहीं किया था। मुझे गौतम पर क्रोध आ रहा था, जो छवि की कहानी के लिए यहां तक भागा आया था, जब कि मेरे दो-चार गीत भी सुनने के लिए उस दिन उसके पास समय नहीं था।

"आ गईं शायद।" गौतम की वात ने मुझे चौंका दिया। छवि सीढ़ियां चढ़ रही थी।

"कहां रह गई थीं?" गौतम ने ही पूछा, "कॉलेज से तो कव की चली हो।"

"वसों का चक्कर है न! घंटा-भर तो प्रतीक्षा में ही वीत जाता है।" उसने थकी-थकी आवाज़ में कहा।

"यह अपनी कहानी संभालो। अच्छा भाभीजी, अव पानी पिलाइए, चला जाए!" गौतम ने उठने की मुद्रा में कहा।

ड्राइंग रूम पार कर रही थी, सुना गौतम पूछ रहा है, "फोन कर दिया था, फिर भी रुकीं क्यों नहीं?" छवि का उत्तर सुनने के लिए मैं वड़ी देर तक सांस रोके दरवाज़े की ओट में खड़ी रही। जव कुछ सुनाई नहीं दिया, तो किचेन में चली गई। वहुत पुरानी एक वात याद आई। एक वार इन्होंने मुझे सुशील के वेडरूम की खिड़की से कान लगाए हुए पकड़ लिया था। पहले तो गुस्से की रौ में काफी कुछ कह गए थे, फिर वाद में समझाया था, "देखो पद्मा, छिपकर सुनने में अपनी वुराई ही सुन पाता है आदमी। वेकार अपना मन खराव करने से फायदा?"

पानी लेकर लौटी तो देखा, गौतम गैलरी से टिका हुआ खड़ा है और पूछ रहा है, "मानसिंह अव तो परेशान नहीं करता?"

"नहीं" छवि ने हौले कहा।

"और मिश्रा को ज्यादा लिफ्ट मत देना। अव प्रोफेसर हो गया है तो क्या, नंवरी वदमाश है वह।"

छवि कुछ नहीं वोली, उसी तरह सिर झुकाए वैठी रही। गौतम के जाते ही मैंने कहा, "यह सज्जन तो तुम्हारे लोकल गार्जियन वने हुए हैं। वड़ा रौव मार रहे हैं!"

"मैं तो परेशान हो गई हूं इनकी बॉसिंग से दीदी।" छवि एकदम फट पड़ी, "हर लड़का इनकी नजर में आवारा है। सब प्रोफेसर्स बदमाश हैं। किसीसे भी बात करो, उपदेश देने लगते हैं।"

"तो फटकार क्यों नहीं देतीं एक बार? कहो कि अपनी हद में रहें।"

उसने एक बार असहाय आंखों से मेरी ओर देखा। होंठ कुछ कहने के लिए फड़फड़ाए, फिर एकाएक उठकर वह अंदर चली गई।

खाना खाते हुए मुझे याद आया, मैंने छवि से कहा, "सुनील का पत्र आया है, तुम्हारी दराज में रख दिया है।"

वह उसी निलिप्तता से चावल-दाल मिलाती रही। न उसकी आंखों से खुशी की किरणें फूटीं, न गालों पर गुलाब उग आए।

"एक पत्र हम लोगों के पास भी आया है। वह परेशान है। तुमने कब से पत्र नहीं दिया उसे?"

"अब रोज-रोज लिखूं भी क्या?" उसने धीरे से कहा।

"यह बात हम लोग कहें तो शोभा देती है छवि! तुम्हारी उम्र की लड़कियां तो दिन में दो-दो चिट्ठियां लिख लेती हैं।" मैंने हंसते हुए कहा, "कम से कम यही सोच लिया करो कि वहां वह निपट अकेला है।"

"मैं यहां अकेली नहीं हूं?" उसने तड़पकर कहा। उसकी बात मुझे चर्टी की तरह लगी। मेरा सारा लाड़-प्यार, सारी ममता उस शब्द के कारण व्यर्थ हो गई थी।

छवि ने शायद अपनी भूल महसूस की। नरम स्वर में बोली, "आप अभी सौरभ के लिए कह रही थीं दीदी। महज मजबूरी समझ लीजिए *कि मैं उसे निपट दे रही हूं। कभी-कभी तो इतनी कोफ्त होती है, पर* जब्त कर जाना पड़ता है।"

"ऐसी कौन-सी मजबूरी है? और अब तो यह भला आदमी तुम्हारा नाम भी लेने लगा है।"

"यह भी मेरी ही बेवकूफी है। मैंने सबसे कह रखा है कि वह मेरे फुफेरे

भाई हैं।'

"क्यों ?"

"दरअसल दीदी, घर से वाहर निकलो, खासकर कॉलेज जाओ, तो सिर पर किसीका साया वहुत ज़रूरी है। सौ तरह की वातें होती हैं, और सव तो भाई साहव से कही नहीं जा सकतीं।"

"शायद तुम ठीक कहती हो।" मैंने एक उसांस के साथ कहा, "मुझे तो इन वातों का अनुभव नहीं है। हमारे न कोई भाई था, न हमें वनाने की इजाज़त थी। और कॉलेज मैं गई ही कितने दिन। मुश्किल से साल-भर।"

"तो आपने वी०ए० फिर प्राइवेट किया है, क्यों ?"

"छोटी वहन की भूल का प्रायश्चित्त करना पड़ा मुझे। उसने लव मैरिज की थी, मौसी के देवर से।"

"आप तो वताया करती हैं न, मांजी वहुत स्ट्रिक्ट (कठोर) थीं ?"

"स्ट्रिक्ट तो थीं। पूरे कस्वे में उनका दवदवा था। फिर भी रमा को वह नहीं रोक सकीं। रोकने का मौका ही न मिला। उन्हें तो सीधे शादी की खवर मिली थी।"

"वहुत वौखलाई होंगी न ?"

"वहुत ज्यादा। सारा गुस्सा मुझपर ही उतरता था। उन्हें यही लगता रहा कि मैंने जान-वूझकर उन्हें अंधेरे में रखा, जव कि सचाई यह थ कि मैंने इस वात की कल्पना भी न की थी। मौसी की नाक के नीचे स कुछ होता रहा, पर उन्हें भी कुछ पता न चला। इतनी छोटी-सी उम्र इतना वड़ा साहस कर जाएगी रमा, किसीने सोचा भी नहीं था।" अनज ही मेरी आवाज़ में तल्खी आ गई थी।

"दीदी, पता नहीं हमारे वुजुर्गों को लव मैरिज से इतनी एलर्जी है ?" छवि कह रही थी, "मैंने तो एकाध वार ही उन लोगों को देखा पर इतना कह सकती हूं कि रमा दीदी के हसवैंड उनसे हर वात में रियर हैं। आप ही वताइए, उनसे अच्छा लड़का ढूंढ़ सकती थीं मां

इतनी अच्छी पर्सनैलिटी है, रमा दीदी तो उनके सामने कुछ भी नहीं हैं।"

पीयूष जाग गया था, इसलिए छवि को उठकर जाना पड़ा, नहीं तो पता नहीं कितनी देर बोलती रहती। कभी गुमसुम बैठी रहती है और कभी बोलने पर आएगी, तो रुकने का नाम ही नहीं लेगी। ओफ़, मेरा तो सिर चकराने लगा था।

७

"तुम्हारे साथ मुश्किल तो यही है पया, कि तुम्हें वहम-सा हो जाता है कि हर कोई तुम्हारे विरुद्ध षड्यंत्र रच रहा है।" यह कह रहे थे।

"मैं आपसे सफाई तो मांग नहीं रही," मैंने तल्खी से कहा।

"लेकिन मैं तो सफाई देना चाहता हूं। जरा-सी बात को लेकर रात-भर रोती रहोगी, उसमें तो कोई तुक नहीं है। पता नहीं कितनी नदियों का पानी आकर तुम्हारी आंखों में समा गया है, कभी सूखता ही नहीं... अच्छा, अब चटपट तैयार हो जाओ।"

"कह दिया न, मुझे नहीं जाना।"

"देखो, अब जरा-सी बात को प्रेस्टीज इशू मत बना लिया करो। हरी अप। सवा सात ऑलरेडी बज चुके हैं। देर से पहुंचने में तो कोई चार्म नहीं है।"

मैं पत्थर की तरह बैठी रही।

बात जरा-सी थी भी और नहीं भी। कम से कम मेरे लिए तो वह जरा-सी बात नहीं थी। शुभा-विशा के स्कूल में वार्षिकोत्सव चल रहा था। पीयूष को दो दिन से बुखार था, इसलिए मैं कार्यक्रम देखने नहीं जा सकी। घर में बैठे-बैठे ही अपनी लाड़ली का सजा-संवरा रूप कल्पना में देखती रही थी। शुभा के गीत को दोहराती रही थी। किंतु आज पुरस्कार-वितरण

था, दोनों को तीन-तीन, चार-चार पुरस्कार मिलने वाले थे। कितनी हसरत से कहा था उन लोगों ने, 'पापा, आज तो आप लोग आएंगे न? आठ बजे कार्यक्रम शुरू होगा। बस, दो घंटे का तो कार्यक्रम है।'

इन्होंने छूटते ही कह दिया, 'मैं आ जाऊंगा बेटी। मम्मी नहीं आ पाएगी। पप्पू की तबीयत ठीक नहीं है न।"

दोनों के चेहरे उतर गए थे। इतना गुस्सा आया मुझे, कम से कम उनका दिल तो न तोड़ते। बाद में कुछ भी बात बनाई जा सकती थी। फिर दो घंटे के लिए मैं चली भी जाती, तो ऐसी कोई प्रलय तो नहीं आ जाती। बुखार तो पीयूष का सुबह ही नार्मल हो गया था। लेकिन इन्होंने मुझसे पूछने की भी जरूरत नहीं समझी और अब भाषण दे रहे हैं।

१०

"दीदी," मैंने सिर उठाकर देखा, छवि मेरे पीछे खड़ी थी, "आप हो आइए दीदी। पीयूष को मैं संभाल लूंगी। अव उतना वुखार भी नहीं।"

"नहीं, रहने दे, अव इच्छा नही हो रही।" मैंने रुंधे गले से कहा।

"अपने लिए न सही, लेकिन लड़कियों के लिए तो आपको जाना होगा। आपको मेरी कसम है।

और इतना कहकर ही वह रुकी नहीं। कंघी लेकर खुद उसने मेरा जूड़ा वनाया। मैं मुंह-हाथ धोकर आई। तव तक उसने मेरे लिए अपनी कोटा ज़री की साड़ी, शाल सव कुछ निकालकर रख दिया था। मन ही मन उवलती रही मैं। यही वात वह पहले भी तो कह सकती थी। तव इतना नाटक तो न होता। अव अपनी भलमनसाहत दिखाकर जैसे मुझे शर्मिंदा करना ही उसका उद्देश्य था। लड़कियों की उदासी का खयाल न होता, तो उसके सारे अनुग्रह ठुकराकर घर में वैठी रहती मैं, कहीं नहीं जाती।

अपने वच्चों की खुशी देखने जा रहे थे हम लोग और शकलें ऐसी वना ली थीं जैसे मातमपुर्सी पर जा रहे हों। वहां भी यह गुमसुम वने रहे। जव स्टेज पर अध्यक्ष का भाषण हो रहा था, तव इन्होंने पहली वार मुंह खोला "पहले से पता होता कि इतनी देर हो जाएगी, तो शर्माजी की नीलू से क आते। छवि के पास वैठ लेती थोड़ी देर।"

इतना कुछ लगा! यहां बैठे हुए भी घर की ही बात सोच रहे हैं। कार्यक्रम समाप्त होते ही मैंने कहा, "अब घर चलिए। मैं बच्चों को लेकर स्कूल बस से आ जाऊंगी।" पहले से जो पता होता तो घर में इतना महाभारत क्यों मचाती? अपनी मर्जी से आती और चली जाती मैं।

इनामों से लदी-फंदी लड़कियों को लेकर घर पहुंची, तब यह ड्राइंग रूम में बैठे पढ़ रहे थे। हमें देखते ही बोले, "वन मिनिट प्लीज!" और जब तक हम आश्चर्य से उबरें, इन्होंने हम दोनों का एक फोटो ले लिया। फिर दो-चार अलग-अलग पोजेज में लड़कियों के और भी स्नैप्स ले डाले। पिछले साल यह कैमरा सुयोग ने भेजा था। विशेष-विशेष अवसरों पर इसका उपयोग कर लेते थे हम लोग। आज का अवसर विशेष है, यह इन्हें रात को ग्यारह बजे भी याद रहा, यह जानकर अच्छा लगा। इनका मूड भी अब शाम की अपेक्षा ठीक हो गया था। मैं प्रसन्न मन से कॉफी बना लाई और हम चारों, सिर्फ हम चारों उसे एन्जॉय करते रहे। पता नहीं, कितने दिनों बाद यह सुयोग आया था। लगा कि मेरा बिखरा हुआ घर फिर जुड़ आया है।

सोचा तो था कि छवि जाग रही होगी। कम से कम इस शोर-शराबे से तो जाग ही जाएगी। लड़कियों के इनाम देखेगी, उन्हें बधाइयां देगी। पर वैसा कुछ नहीं हुआ, तो मन खट्टा हो गया। मैंने इनसे कहा भी, "उसके लड़के को तो मैं आंखों पर रखती हूं। क्या उसका इतना फर्ज नहीं था?"

"हमेशा बात का अच्छा पहलू देखा करो प्रभा।" इन्होंने अपने सौम्य अंदाज में कहा, "दुख की मात्रा इससे बहुत कम हो जाती है। यही सोच लो कि दो रातों से जाग रही है बेचारी। आज निश्चिंत होकर सोई होगी, क्योंकि बुखार नहीं है। और फिर रात भी तो हो गई है।"

'ठीक है, ऐसा ही सही', मैंने कॉफी की ट्रे उठाते हुए सोचा। रात गए किसी भी विषय पर बहस करने की हिम्मत नहीं थी मेरी

११

"दीदी, मैं घर जाना चाहती हूं।" छवि का यह प्रस्ताव अप्रत्याशित रूप में मेरे सामने आया था। घर अर्थात् मां का घर। यह घर तो वेटिंग रूम है। सुशील के आने तक किसी तरह समय काटने का स्थान है। मन इतना खराब हो गया कि कारण पूछने की इच्छा नहीं हुई। उसीने वताया, "रात सपने में मां को देखा था; वहुत वीमार है। एक वार देखकर लौट आऊंगी।"

"ठीक है, भाई साहव तुम्हारे क्या कहते हैं देख लूं। आखिर जाना तो उन्हींकी मर्जी से होगा न!" मैंने रूखा-सा जवाव दे दिया।

यह सपने वाली वात मेरे साथ तो चल गई, लेकिन यह उसपर विश्वास कर लेंगे, यह असंभव था। दो-तीन दिनों से छवि सूजी-सूजी आंखें और उदास-उदास चेहरा लिए घूम रही है, यह क्या उनसे छिपा हुआ है! मुझे तो डर था, उसके इस आकस्मिक निर्णय का दोष मुझपर न थोप दिया जाए।

पर वैसा कुछ नहीं हुआ, इन्होंने वड़ी शांति से अपनी स्वीकृति दे दी और मैंने राहत की सांस ली। मैं भी कुछ दिनों के लिए ज़रा निश्चित होकर रहना चाहती थी। चौवीसों घंटे घर में किसी तीसरे व्यक्ति की उपस्थिति मन पर भार वनने लगी थी। नौकरी लगने तक सुशील भी हम

लोगों के साथ ही रहते थे। पर उनके साथ यह समस्या नहीं थी। छवि को लेकर हर बार मन में यही सकोच बना रहता है—बेचारी अकेली है, उसका पति यहा नही है।

जब एक बार जाना तय हो गया तो मैं अपनी सारी कड़आहट भूल-कर उसकी तैयारी में जुट गई। पता नही क्यों मन में हमेशा एक डर-सा रहता है। कोई मुझे गलत न ममझ ले। दिन-दिन-भर आच के सामने बैठ-कर मैंने उसके भाई-भतीजों के लिए मिठाइया बनाईं; रात-रात-भर जाग-कर पीयूष के लिए सूट सीती रही। बल्कि छवि ने एकाध बार कहा भी, "दीदी, कितनी मेहनत कर रही है आप! मुझे, लगता है, मेरे जाते ही आप बीमार पडने वाली हैं।"

कोई इतना-भर कह देता है, तो सारी मेहनत सफल हो जाती है। सारी थकान दूर हो जाती है। लेकिन यह भी हमेशा कहा नसीब होता है।

जाने वाले दिन छवि जब अपनी पुस्तकें मेज़ से उठाकर अलमारी में रख रही थी, तो मुझे याद आया। मैंने कहा, "छवि, गौतम की कोई किताबें होंगी तो अलग रख देना। किसी दिन मागेंगे, तो मैं कहां ढूंढ़ती फिरूंगी।"

"गौतम का ट्रांसफर हो गया है, बिलासपुर।" यह वॉश बेसिन के सामने खड़े शेव कर रहे थे, वही से बोले।

"आपसे किसने बताया?"

"उसका फोन आया था।"

"एक बार घर आकर तो बता सकता था। यों तो दो-दो घंटे बोर करता रहा है।" सचमुच इतना गुस्सा आ रहा था मुझे।

"वह आए थे दीदी, आप लोग घर पर नहीं थे।" छवि ने हौले से बताया।

"अरे, तो कब जा रहे हैं वे लोग? किसी दिन खाने पर ही बुला लेते उन्हे, विद फैमिली।" मेरा गुस्सा भाप बनकर उड़ गया था और अब मुझे

हस्य धर्म की चिंता हो रही थी।

"अभी दो-तीन दिन तो मैं बाहर जा रहा हूं। लौटकर आऊंगा, तब देखी जाएगी।" इन्होंने कहा।

साथ के लिए टिफिन भर रही थी मैं, अचानक जैसे मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। छवि रानी की माताजी एकाएक सपने में क्यों अवतरित हो गईं, इसका रहस्य मेरे सामने सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो गया।

•

१२

मैंने तो सोचा था कि छवि के जाने के बाद मैं अपने घर में निश्चित होकर रह सकूगी, किंतु उस समय पीयूष की बात मैंने नहीं सोची थी। उसके जाते ही घर इतना सूना हो जाएगा, दिन इतने लंबे हो जाएंगे, इसका गुमान ही नहीं था। लड़कियां खा-पीकर स्कूल चली जाती, तो एकांत जैसे मुझे लीलने को दौड़ने लगा। अजीब-अजीब आवाजें मेरा पीछा करने लगतीं। कभी लगता, झूले में पीयूष कुनमुना रहा है और मैं दौड़कर उसे उठाने जाती, तब खाली झूला मेरा मुंह चिढ़ाने लगता। कभी लगता, छवि सिर-हाने खड़ी होकर कह रही है—दीदी! चाय ले लीजिए। सिर उठाकर देखती तो सिर्फ घू-घू करता सीलिंग फैन ही नजर आता। स्नेह के धागों में इतनी लिपट गई हू, खुद मुझे ही पता न था।

लड़कियां भी बहुत उदास हो गई थीं। बहुत दिनों से एक भैया की फरमाइश थी उनकी, वह इस तरह अनायास की पूरी हो गई थी। चाची से भी अच्छी-खासी दोस्ती हो गई थी उनकी। उनके बिना वह कमरा खूब बड़ा-बड़ा लगने लगा था। और तो और, पापा भी उन लोगों के साथ चले गए थे। शुभा-विभा का वश चलता, तो शायद सिर्फ सोने के लिए ही घर पर आतीं।

दो-तीन दिन तो मैंने बिस्तर पर पड़े-पड़े ही काट लिए। दो-तीन

त्यास पूरे के पूरे पढ़ गई मैं। चौथे दिन सोचा, अब कुछ हाथ-पांव लाना चाहिए। कुछ नहीं तो बगल वाले कमरे की सज्जा ही बदल दी जाए। झूले को फोल्ड करके मचान पर डाल दिया जाए, तो दोनों पलंग पास-पास आ जाएंगे। फिर यह कमरा उतना सूना नहीं लगेगा।

काम इतना आसान नहीं था, जितना सोचा था। कमरे में सिर्फ झूला ही तो नहीं था। ग्राइप वाटर और टीथिंग सीरप की खाली शीशियां थीं, पुरानी नैपीज थीं, खिलौने थे, पाउडर के पुराने डिब्बे थे—इन सबको समेटते-समेटते हांफ उठी मैं। हर चीज़ का स्पर्श पीयूष की याद दिला जाता था। झूले की मसहरी खोलते हुए तो मुझे रुलाई फूट पड़ी। किसी तरह मैंने मसहरी उतारी। नन्ही रेशमी रज़ाई धूप दिखाने के लिए एक ओर रख दी। फिर गद्दा समेटा…और यह क्या? गद्दा और दरी के बीच में एक सफेद क़ागज़ पड़ा था मुड़ा-तुड़ा-सा।

बहुत पुरानी-सी आदत है यह। कागज़ का कोई भी टुकड़ा मिले। मैं पढ़े बिना नहीं रहती। मां के राज्य में घर में सिर्फ 'कल्याण' आता था। दैनिक अखबार भी हमारी नज़रों से दूर रखा जाता था। क्योंकि अक्सर उसमें भी चटपटी खबरें होती थीं। तब बाज़ार से जो भी सौदा आता, हम तत्परता से उसे खोलने बैठ जातीं। असली आकर्षण होता था उस कागज़ में जिसमें यह सौदा आया था। इन अखबारी कागज़ों ने हमें फिल्मी दुनिया की सैर कराई है, चुटकुले सुनाए हैं, बलात्कार और आत्महत्याओं की चटपटी खबरें सुनाई हैं। मां को हमारी इस कारस्तानी का पता नहीं चला नहीं तो शायद उनपर भी बैन लग जाता।

अब तो घर में पढ़ने के लिए इतना सब होता है, फिर भी पुरानी आदत नहीं जाती। हथेली से दबा-दबाकर उस कागज़ को सीधा किया और पलंग पर बैठकर पढ़ने लगी। पढ़ते हुए हर पंक्ति के साथ मेरा खून [illegible] होता जा रहा था। लिखा था :

छवि,

कल रात की उन्मत्तता के लिए क्षमा चाहता हूं। ऐसे क[illegible]

क्षण जिन्दगी मे कभी-कभार आ ही जाते हैं। उसके लिए अपने-आपको कोसना व्यर्थ है, यह भी जानता हूं। क्षमा सिर्फ इसलिए कि मैं तुमसे बड़ा था, उम्र में भी और अनुभव से भी। मुझे ही अक्ल से काम लेना था।

पिछले दिनों ट्रांसफर रुकवाने के चक्कर में बहुत हाथ-पांव मारता रहा। भोपाल महंगा सही, यहां पत्नी के पास छोटी-सी नौकरी थी। मेरे मध्यवर्गीय जीवन में उसका बहुत बड़ा सहारा था। सब कुछ छोड़-छाड़कर नई जगह सेटिल होने की कल्पना कंपा देती है।

लेकिन मेरा चाहा नही हो सका। बहुत ही भारी मन से कल तुम लोगों से विदा लेने पहुंचा था। तुम्हें अकेली देखकर कुछ अधिक ही भावुक हो उठा मैं, एक अनाम भावात्मक रिश्ता तुम्हारे साथ स्थापित हो रहा था मेरा, यह कल ही जाना और उसी आवेग मे थोड़ा बहक गया।

तब पता नहीं था कि तुम मानसिक रूप से इतनी त्रस्त हो। पति का लम्बा प्रवास, घर का बोझिल वातावरण और बच्चे की बीमारी—इन सबने मिलकर तुम्हें किस तरह हिला दिया था, यह तो तब जाना जब तुम परकटे पक्षी की तरह मेरी गोद मे सिर रखकर फफककर रो पड़ी।

मैं मनुष्य हूं, पत्थर नही। तब भूल गया था कि मैं किसीका पति हूं, पिता हूं। तुम किसीकी पत्नी हो, मां हो। वह तो एक भावावेग था, रोजमर्रा की जिंदगी में प्रवेश करते ही उतर गया है। सोचता हू ''

ट्रिं ''ग।

दरवाजे की घंटी इतनी कर्कश कभी नहीं लगी थी। उसी अस्तव्यस्त भाव से जाकर दरवाजा खोला मैंने। सामने यह खड़े थे—हाथ में अटैची लिए।

''आ''प !''

''क्यों पहचान में नही आ रहा हूं क्या? दो ही दिन में इतना बदल

गया हूं ? और तुम्हारी शक्ल ऐसी क्यों हो रही है ? घर पर तो सब ठीक-ठाक है न !...किसकी चिट्ठी आई है यह ? मांजी की ?"

उन्होंने व्यग्रता से पत्र मेरे हाथ से ले लिया। सरसरी निगाह से उसे पढ़ा, फिर टुकड़े-टुकड़े करके हवा में उछाल दिया।

"यह क्या किया आपने ?" मैंने तैश में आकर कहा।

"वही किया जो छवि को बहुत पहले करना चाहिए था।" इन्होंने शांत स्वर में उत्तर दिया।

"लेकिन कम से कम एक बार..."

"जवाब-तलब करना चाहती हो न ? अब भी कर लेना।" मैं गवाही दे दूंगा। फिर अटैची उठाकर भीतर जाते हुए बोले, "चौदह घंटे का सफर करके आया हूं। चाय-वाय तो पूछो।"

चाय तो खैर मैंने बनाई ही। फिर नहाने के लिए पानी भी गरम किया। खाना भी बनाया, खाना खाकर बड़े इत्मीनान से तैयार होते हुए बोले, "ऑफिस हो आऊं जरा। आधे दिन की सी० एल० ही बच जाएगी।"

इतनी हैरत हुई मुझे। इतनी बड़ी बात हो गई और इन्हें अपनी सी० एल० की पड़ी है। सच, इनकी थाह लेना मुश्किल है।

शाम को दफ्तर से लौटे, तो लड़कियां घेरकर बैठ गईं, "पापा, हमारे लिए क्या लाए ?"

"अरे, मम्मी ने क्या अब तक तुम्हें बताया नहीं।" फिर भीतर आकर बोले, "मेरी अटैची अभी तक बाहर ही पड़ी है पद्मा, ड्राइंग रूम में ! ऐसी क्या नाराजी है भई !"

फिर डाइनिंग टेबुल पर सारा सामान खोलकर बैठ गए। दालमोठ-पेठे के पांच-छः पैकेट थे, अलग-अलग प्रकार के। गुड़िया थी, खिलौने थे। साड़ी और मीनाकारी वाली चूड़ियां थीं। पुस्तकें थीं। वह इत्मीनान से बैठे समझाते रहे कि कौन-सी वस्तु वह खरीदकर लाए हैं, कौन-सी समधीजी ने भेजी है। लड़कियां पास बैठीं किलकती रहीं, पीयूष की याद आते ही उन

लोगों का गला भर आया था। और जब इन्होंने बतलाया था कि वहां से चलने पर साथ आने के लिए वह खूब रोया था, तो एक तरह से अच्छा भी लगा था।

मैं नितात उदासीन होकर उनकी बातें सुनती रही। अनमने भाव से चीज़ें छू-छूकर मैंने वापस रख दीं। उस समय सोच-सोचकर मेरा दिमाग सुन्न हुआ जा रहा था। दालमोठ की किस्मों की चर्चा ज़रा अच्छी नहीं लग रही थी। प्रसंग की गम्भीरता को देखते हुए इनकी सारी बातें ही बड़ी हास्यास्पद लग रही थीं।

लेकिन रात बेडरूम में प्रवेश करने पर देखा, यह सब दिखावा था। वे भी उतनी ही बुरी तरह आहत हुए थे। दोनों हाथों में सिर दिए पता नहीं कितनी देर अपनी मेज़ के पास बैठे रहे। मैं अपने बिस्तर पर पड़े-पड़े देखती रही। आखिर जब आधी रात हो चली तो मुझसे नहीं रहा गया।

"सोएंगे नहीं क्या आज ! रात-भर के जगे हुए हैं।" मैंने प्यार से सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

उन्होंने सिर ऊपर उठाया, आंखों में उदासी के गहरे बादल थे। "पद्मा !" थकी-सी आवाज़ में बोले, "बड़ी उलझन में फंस गया हूं। आज दफ्तर में भी ज़रा मन नहीं लगा। निरन्तर वही एक बात सोच रहा हूं।"

"हमारे सोचने-विचारने से बीते क्षण लौट तो सकते नहीं। फिर परेशान होने से फायदा ?" मैंने कुछ कहने की गरज से कहा।

"एक बात मेरे मन में आई है पद्मा।"

"क्या ?"

"हमें भूल जाना होगा कि इस तरह का कोई पत्र हमने देखा था। कर सकोगी इतना ?"

"वाह, इतनी देर सोचकर यही हल निकाला है ?"

"यह कोई बहुत मुश्किल काम है पद्मा ?"

"इससे क्या होगा ?" मैंने वहीं पास एक स्टूल पर बैठते हुए रूखी आवाज़ में कहा।

"क्या होगा यह तो नहीं कह सकता, परन्तु याद रखने में दुःख ही दुःख, इतना जानता हूं। छवि को अगर किसी दिन पता चला, तो वह कभी तुम्हारे सामने सिर नहीं उठा सकेगी। सुशील अगर जान जाएगा, तो ज़िंदगी-भर सुख की नींद नहीं सो सकेगा। इतना बड़ा अन्याय मुझसे तो नहीं हो सकेगा।"

"न्याय-अन्याय तो मैं जानती नहीं, लेकिन अगर मेरे भूलने से छवि का कलंक दूर हो जाता है, तो यही सही।" मेरे मन में धीरे-धीरे रोष उफनने लगा था।

"यह कलंक-वलंक कहां की बातें ले बैठीं तुम, हिश, इट इज़ ऑल हंबग··मैं छवि का पक्ष नहीं ले रहा पद्मा; लेकिन उसे कटघरे में रखने से पहले एक बार सोचो। क्या तुम विश्वास के साथ कह सकती हो कि सुशील वहां एकदम संन्यासी बना-हुआ है? इतने स्वच्छंद समाज में इतने सारे प्रलोभनों के बीच उसका मन एक बार भी नहीं डोला होगा? क्या तुम दावे के साथ कह सकती हो?"

उनके तमतमाए चेहरे को एकटक देखते हुए मैंने बस इतना कहा, "काश, छवि सुन पाती, आप कितनी अच्छी पैरवी कर रहे हैं उसकी!"

मेरे व्यंग्य से मर्माहत होते हुए उन्होंने कहा, "मैं किसीकी पैरवी नहीं कर रहा। सिर्फ इतना जानता हूं कि देश हो या विदेश, मर्द हो या औरत, अकेलापन सबको एक-सा सालता है। यह मैं किसी और के अनुभव की बात नहीं कर रहा हूं। वही बात कर रहा हूं, जिसे तुम्हारी साहित्यिक भाषा में भोगा हुआ यथार्थ कहते हैं।"

"अच्छा, यह यथार्थ, यह अकेलेपन का अहसास आपके हिस्से में पड़ा?"

"तब जब तुम अपनी तीन हड्डियां तुड़वाकर पांच महीने तक अस्पताल में पड़ी थीं। जब मैं दफ्तर, घर और अस्पताल में चकरघिन्नी की तरह घूमता था। तुम्हें शायद वह सब इतनी आत्यंतिकता के साथ याद न हो, लेकिन मैं तो नहीं भूल सकता। तुम्हारे साहित्य में संत्रास, कुंठा—

कुछ होता है, सब मैंने उन दिनों अनुभव किया है। घर में रहता तो खाली घर काटने को दौड़ता, क्योंकि मांजी बच्चों को लेकर चली गई थी। दफ्तर जाता तो सैंकड़ों चिन्ताएं किसी जिद्दी बच्चे की तरह साथ लग जाती। शाम होती तो अस्पताल का रुख करता, अपनी स्नेहमयी पत्नी से मिलने। लेकिन वहां सामना होता एक बीमार, चिड़चिड़ी, ईर्ष्यालु औरत से। उससे मिलने की कल्पना से ही मन कांपने लगता। हॉस्पिटल के फाटक पर पहुंच-कर सोचता, उल्टे पैरों भाग जाऊं और किसी पिक्चर हॉल की शरण लूं।"

"प्ली...ज।" मैंने तड़पकर कहा और उनका मुंह अपनी हथेलियों से बंद कर दिया। वे चुप हो गए, अपने हाथों में मेरे हाथ लेकर धीरे-धीरे सहलाते रहे। फिर मृदु स्वर में बोले, "बहुत बुरा लगता है न उन बातों को याद करना?"

मैंने उत्तर में पलकें झुका दी।

१३

अपने मन का भार हल्का होते ही वे तो प्रगाढ़ निद्रा में खो गए, लेकिन मेरी आंख नहीं लग सकी। अस्पताल के वे दिन किसी दुःस्वप्न की तरह मेरा पीछा करते रहे। रोज की तरह स्टूल पर चढ़कर कपड़े सुखा रही थी, पता नहीं कैसे उलट गया। ज़मीन पर चित गिर पड़ी मैं और उसके बाद जब होश आया, तब मैं अस्पताल में थी, शरीर प्लास्टर में जकड़ा हुआ था। एक-डेढ़ महीने तो उसी तरह एकदम सीधे लेटना पड़ा था, हिप बोन टूट गई थी। लेटे-लेटे पता नहीं कैसे ऊटपटांग विचार आते रहते मन में। ज़िंदगी-भर लंगड़ाकर चलने की कल्पना से मन कांप-कांप जाता। डॉक्टर ने इशारा कर दिया था कि हमें दो लड़कियों पर ही अब संतोष कर लेना होगा। यह बात मन में कांटे-सी गड़ती। अपना नारीत्व व्यर्थ हुआ जान पड़ता। ऐसे समय इनसे सहानुभूति की, आश्वासनों की अपेक्षा रहती। सारा दिन जैसे सिमटकर पांच बजे की सुई पर केंद्रित हो जाता था।

यह नियम से आते थे। घंटों पास बैठे रहते, कुछ घर की, कुछ बाहर की सुनाते। अपने हाथों से चाय बनाकर पिलाते। फल काटकर देते। फिर पता नहीं क्यों लगने लगा कि उनके स्पर्श में स्नेह का उत्ताप अब पहले का-सा नहीं रहा है। वह मात्र एक रूटीन हो गया है, एक उबाऊ रूटीन। तब इतना असहाय अनुभव करती अपने-आपको।

हर रोज़ शार्म किसीकी मदद से मैं अपने को संवार लेती और फिर बड़ी हसरत से दर्पण देखती, दर्पण देखती और रोना आ जाता। तब अपनी सारी खीझ मैं इनपर ही उतारती। पता नही कैसे-कैसे उपालंभ देती। उस समय यह भी याद नही रहता कि मैं अस्पताल के जनरल वार्ड में पड़ी हूं। अपने पैरों चलने वाला हर व्यक्ति मेरी ईर्ष्या का पात्र था। हर सुंदर औरत मुझे जहर लगती, खास कर मिसेज कश्यप। पड़ोसी थे वे लोग। इस नाते जितना वन सकता था, मदद कर देते थे। यह होटल में खाते थे, फिर भी यदा-कदा कुछ न कुछ बनाकर वह भेजती रहती थी। मेरे पास हर तीसरे-चौथे दिन आकर वैठती थी मिसेज कश्यप। कभी कपड़े वदलवा देती, कभी कंघी कर देती। कई वार मैंने उनसे चिट्ठिया भी लिखवाई हैं। पर इन सबके लिए कृतज्ञ होना तो दूर, मैं मन ही मन द्वेष से धधकती रहती थी।

अभी उस दिन मिसेज कश्यप आई थी मिलने। गोलगप्पे-सी फूल गई हैं और वालों में भी सफेदी झांकने लगी है। यह सोचते हुए भी शर्म आती है कि उन्हे देखकर बहुत संतोष हुआ, राहत मिली। अस्पताल से लौटते हुए यही एक बीमारी साथ ले आई हूं मैं। जिस व्यक्ति से मन ही मन द्वेष करती हूं, उसे दु खी देखकर संतोष होता है। इनके वॉस की एक बड़ी प्यारी-सी लड़की थी। रूप ऐसा कि आंखें टिकी रह जाएं। उतने ही संपन्न घराने मे व्याही गई है। पिछले साल सुना कि उसे कैंसर हो गया है। सुनकर दु ख होना चाहिए था, पर नही हुआ।

और "और मैं एकदम अपने विस्तर पर उठ वैठी। अपने मन को खूब ठोक-बजाकर देखा—कल वाली बात से मन को दुःख कितना-सा हुआ था। बल्कि बहुत गहरे एक तृप्ति का अहसास हुआ था। छवि की कच्ची उम्र, उसका दूधिया रंग, उसका आकर्षक व्यक्तित्व, उसका भरा-पूरा परिवार, विदेश जाकर ट्रेनिंग लेने वाला उसका पति, यहां तक कि नन्हा पीयूष भी " सभीको लेकर मन में एक सूक्ष्म ईर्ष्या-सी थी। उस पत्र के रूप में मेरे हाथ में एक ट्रप कार्ड आ गया था, जो पल-भर मे उसे निष्प्रभ कर सकता था। उस महत्वपूर्ण दस्तावेज के टुकड़े-टुकड़े कर देने से ही क्या बात समाप्त हो

जाती है ? अपने मन में इतना बड़ा चोर छिपा होता है और कभी-कभी अपने को ही पता नहीं चलता।

"मेरे मन में एक बात आ रही है।" सुबह चाय का पहला घूंट लेकर इन्होंने शुरुआत की।

"क्या ?"

"अगर सुशील को बहुत असुविधा न हो, तो कुछ दिनों के लिए छवि को उसके पास भेज दें।"

"इसी लायक हम होते तो क्या इससे पहले नहीं भेज सकते थे ?" मैंने कहा।

"सो तो है, लेकिन हमारी लियाकत का सवाल अब इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है। इस समय तो सोचना यह है कि वियोग की उनकी अवधि इतनी लम्बी न खिंच जाए कि मिलने की सम्भावनाएं ही समाप्त हो जाएं। व्यवस्था तो मुझे कुछ न कुछ करनी ही है। सिर्फ तुम्हारी राय जानना चाहता था।"

मैं चुप बनी रही।

"क्या सोच रही हो ?"

"सोच रही हूं कि यह दंड है या पुरस्कार ?" मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया। इनका चेहरा अचानक तमतमा आया। कुछ सख्त लहजे में बोले, "पद्मा ! हम लोगों ने तय किया था कि हम सब कुछ भूल जाएंगे।"

"हम लोगों ने तय कुछ नहीं किया था। सिर्फ आपने प्रस्ताव-भर किया था। और किसी भी ऐसी-वैसी बात को भुलाना इतना आसान नहीं होता, कम से कम मेरे लिए नहीं है। मैं आप लोगों की तरह अल्ट्रा मॉडर्न नहीं हूं। रूढ़िवादी ही सही, लेकिन संस्कारी मन है मेरा।" इतनी-सी बात कहते हुए भी मैं हांफने लगी थी।

"और तुम्हारे संस्कार, तुम्हारी रूढ़ियां, तुम्हारी मान्यताएं दैहिक संबंधों पर आकर समाप्त हो जाती हैं। तुम्हारे लिए पवित्रता का मापदंड

सिर्फ शरीर है। लेकिन इस हाड़-मांस से बने शरीर के परे भी एक वस्तु है—मन; उसके लिए कभी सोचा है ?"

एक असाधारण आवेश में इतना सब कुछ कह जाने के बाद यह क्षण-भर को रुके—शायद मेरे उत्तर के लिए। फिर गंभीर होकर बोले, "मैं ठीक तुम्हारी तरह एकांगी होकर नहीं सोच पाता, यही तो मुश्किल है। यह अनुभवहीन लड़की दो साल से पति की प्रतीक्षा में आंखें बिछाए बैठी है; उसके पत्रों पर जी रही है। यदि उसके हाथ से एक प्रमाद हो भी गया, तो मैं उसे अक्षम्य अपराध नहीं मान सकता। आखिर हम लोग उन्हें भी तो क्षमा कर देते हैं, जो मन कहीं और रख आते हैं और साल-दर-साल दांपत्य का नाटक किए जाते हैं।"

"यह किसके लिए कह रहे है आप ?" मैं करीब-करीब चीख पड़ी। बगल वाले कमरे में होमवर्क करती हुई लड़कियां दौड़ी आईं और भयचकित नजरों से हमें घूरने लगीं। अपने आवेग पर लज्जित होकर मैंने सिर झुका लिया।

"कहो बेटेराम ! क्या तकलीफ है आपको ?" इन्होंने हंसते हुए पूछा, तो वे धीरे-धीरे अपने कमरे की ओर लौट गईं। लेकिन उनकी आंखों में तिरता हुआ संदेह साफ झलक रहा था।

"मैं सिर्फ एक उदाहरण दे रहा था पद्मा ! तुम्हें इतना ऑफ होने की जरूरत नहीं थी।" इन्होंने कसैली आवाज में कहा और उठकर चले गए।

खाली प्यालियों को शून्य दृष्टि से देखती हुई मैं पता नहीं, कितनी देर बैठी रह गयी।

१४

सुशील का पत्र यथावकाश आ गया था। पत्र का प्रत्येक अक्षर वतला रहा था कि छवि के वहां पहुंचने की कल्पना-मात्र से वह कितना पुलकित हो उठा है। भैया-भाभी के त्याग, स्नेह, ममता और सूझवूझ की प्रशंसा में उसने पृष्ठ के पृष्ठ भर दिए थे।

अव यही पछतावा होता रहा कि यह खयाल हमें पहले ही क्यों न आया। इतनी ही दौड़-धूप तव कर लेते हम। कम से कम अपने उत्तर-दायित्व का तो ठीक से निर्वाह हो जाता।

सुशील ने बार-बार लिखा था कि वहुत आउट ऑफ दि वे जाकर रुपयों का प्रवंध न करें। उसे थोड़ी निराशा ही तो होगी, वह झेल लेगा। घर-भर को परेशानी में डालकर मिलने वाली खुशी उसे स्वीकार नहीं है।

दूसरे पत्र में लिखा था—सौभाग्य से उसके एक प्रोफेसर आठ महीनों के लिए 'लेक्चर टूर' पर जा रहे हैं। उनका फर्निश्ड फ्लैट आसान शर्तों पर मिल रहा है। अगर छवि का आना निश्चित हो, तो वह वात करे।

निश्चित तो खैर था ही।

तीसरे पत्र में था—छवि अगर जल्दी आ सके तो अच्छा है। ६-८ महीने का कोई छोटा-मोटा कोर्स वह पूरा कर लेगी। हां, अगर पीयूष साथ आए, तो असुविधा हो सकती है। यहां की जलवायु में वहुत फर्क है। शुरू-

शुरू में बड़ों को भी परेशानी होती है। फिर गाइड करने वाला भी कोई नहीं है लालनात।

पत्र का स्वर स्पष्ट था, वह छवि को बिलकुल अकेले में पाना चाहता था। उन दोनों के बीच वह बच्चा भी उसे गवारा नहीं था। इतनी दूर से शायद वह अपने को उस अनदेखे बच्चे से जुड़ा हुआ महसूस नहीं कर पा रहा था। उसके लिए शुभा-विभा और पीयूष में कोई खास अंतर नहीं था

लेकिन छवि के पत्रों में यह कसक साफ झलक जाती थी। सुशील से मिलने का उल्लास, नया देश देखने का उत्साह—इन सबपर उदासी की एक पर्त-सी रहती। कितने प्रयासों से उसने अपने को तैयार किया होगा इसे हम लोग समझ सकते थे।

१५

और अप्रैल की एक सुबह वह अचानक ही आ खड़ी हुई। उसके आने के साथ ही घर में जैसे उत्सव का वातावरण हो गया। लड़कियों का आनंद जैसे छलका पड़ता था। मुझसे तो आते ही ऐसे लिपट गई कि सारा कल्मष पल-भर में ही धुल गया।

साथ उसका भाई आया था, बोला, "दीदीजी! यह महारानी परीक्षा देने के लिए हाज़िर हुई हैं। मेरी तो समझ में नहीं आता कि पेपर में क्या लिखेंगी आखिर। एक दिन भी तो किताब खोलकर देखी नहीं। बस, जब देखो तब जीजाजी को लंबी-लंबी चिट्ठियां लिखी जा रही हैं। फॉर्म के पैसे तो बिगड़े ही थे, यह किराया और ऊपर से खर्च हो गया।"

"किताबें तो सब यहां छोड़ गई थी, वहां पढ़ती क्या खाक! वह तो ऐसे जमकर बैठ गई वहां, हमने सोचा परीक्षा का आइडिया ड्राप कर दिया होगा।" अनचाहे ही स्वर मेरा स्नेहार्द्र हो आया था। लगा, जैसे शुभा-विभा की ही बात कर रही हूं मैं।

एक शर्मीली मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेलती रही। दोपहर में भाई जब अपनी सफर की थकान मिटा रहा था, वह मेरे पास आकर बैठ गई और बड़े रहस्यमय अंदाज़ में बोली, "मुझे तो पता है दीदी, मेरी अटेंडेंस इतनी शॉर्ट है, परीक्षा देने का कोई सवाल ही नहीं उठता, मैं तो सिर्फ आने

का बहाना ढूंढ़ रही थी।"

"यहां आने के लिए बहाना ढूंढ़ना पड़ता है तुम्हें ?" मैंने आहत स्वर में कहा।

"आप समझ नहीं रही हैं'''दरअसल मैं पीयूष को आपके पास छोड़ना चाहती हूं।"

"मेरे पास ?"

"जी, और मां और बाबूजी जिद कर रहे हैं कि वह उन्हींके पास रहे। उनके पास छोड़ने को मेरा मन नहीं करता। लाड़-प्यार तो वह बहुत करते हैं, पर बच्चे के साथ तो सौ परेशानियां होती हैं, जो उनके वश की नहीं हैं। भाभियों पर मेरा विश्वास नहीं है। वे लोग बहुत अच्छी हैं, पर''' आपके पास रहेगा, अपनी दीदी लोगों के पास रहेगा, तो मैं निश्चिंत होकर जा सकूंगी। और किसीके पास तो मैं उसे छोड़ नहीं सकती'''और देखते ही देखते उसकी आंखें भर आईं और वह मेरे कंधे पर सिर रखकर सुबकने लगी। पता नहीं कितने दिनों से इस आवेग को वह अपने में छिपाए बैठी थी।

व्यग्र होकर मैं उसकी पीठ पर, सिर पर हाथ फेरती रही। सुशील पर इतना रोष आया। नन्हे-से बच्चे को छोड़कर चल देना क्या इतना आसान है ! मां बनकर देखे कोई तब पता चले।

१६

"वह बच्चे को मेरे पास छोड़ जाना चाहती है।" रात मैंने उन्हें
ाया तो एकबारगी वह भी चौंक उठे।

"तुमने क्या जवाब दिया?"

"मैं तो आज ही सुशील को लिख दूंगी कि यह रोग मेरे वश का
हीं है।"

"लेकिन प्रस्ताव तो सुशील की ओर से आया नहीं है, जिसने किया है
उसीसे कहो न।"

"यह नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"उसने इतने विश्वास के साथ मुझसे कहा है कि मुझसे उसके सामने
मना करते नहीं बनेगा।"

"वही तो पूछ रहा हूं, क्यों नहीं बनेगा?"

"इसलिए कि मैं उतनी दुष्ट नहीं हूं जितना आप समझते हैं।" मैंने
लगभग चीखकर कहा और रात के उस शांत वातावरण में मुझे अपनी ही
आवाज बड़ी कर्कश लगी। इनकी ओर एक रोष-भरा कटाक्ष फेंककर मैं
दूसरी करवट लेट गई।

कभी-कभी सभी मेरी सहनशीलता की परीक्षा क्यों लेने लगते हैं?

सुबह से शुभा-विभा किलक रही थीं "मम्मी, चाची कह रही थी, पप्पू अब साल-भर अपने ही पास रहेगा। यह वात सच्ची है न !"

मतलब महारानी जी सब कुछ तय करके बैठी हैं। विभा कहती रही, "मम्मी, झूला तुम अपने कमरे मे तो नही रखोगी ? हमारे कमरे में ही रखना, दोनो पलगों के बीच, रोएगी तो हम लोग संभाल लेंगे।"

कितना चबर-चबर करने लगी हैं ये लोग !

महरी भी तो कम नही, कहने लगी, "बाबा को रखिब लेना बाई। बच्चा रहेगा घर मे तो अच्छा लगेगा।"

अब इससे सलाह मांगने गया था कोई ? और तो और, श्रीमानजी भी ! खा-पीकर मजे से आराम कुर्सी पर बैठे झूल रहे थे। ग्यारह बज रहे थे। बच्चे स्कूल चले गए थे। छवि भाई के साथ टाइम टेबल देखने कॉलेज गई थी। सोचा था, सबके जाने के बाद पत्र लिखूगी इत्मीनान से। कागज-पेन सब सजाकर बैठी थी और इनके दफ्तर जाने की राह देख रही थी। लेकिन इन्होंने कपड़े तक नही बदले थे।

"जाना नही है आज ?" मैंने चिढ़कर कहा।

"आज छुट्टी ले ली है।"

"किस खुशी मे ?"

"ऐसे ही। विशेषज्ञों का कहना है कि कभी-कभी दफ्तर से गोल कर जाना चाहिए, स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है' फिर कभी-कभी तुम्हारे साथ अकेले में बात करने की भी इच्छा होती है।"

हारकर मैं मेज के पास से उठी और एक कुर्सी खीचकर उनके सामने जा बैठी, और बोली, "कहिए, क्या बात करनी है ?"

"कोई खास बात नहीं है, तुम काम कर लो अपना। चिट्ठी लिख रही थीं न ! किसे ? सुशील को ? लिख लो न, फिर बात करेंगे।"

"आपके सामने नही लिख पाऊंगी।"

"क्यों, इतनी प्राइवेट चिट्ठी है ? मजमून तो शायद रात को तुमने बता ही दिया था।"

"मजमून वह नहीं है जो आप समझ रहे हैं।"

"तो फिर शायद छवि के बारे में लिखना होगा, ठीक है न ?"

"देखिए, मैंने कल भी आपसे कहा था कि मैं उतनी दुष्ट नहीं जितना आप समझ रहे हैं।" मेरी आवाज़ फिर ऊंची चढ़ गई थी। सूने घर में एक गूंज-सी पैदा करती हुई अपनी ही आवाज़ मुझे बड़ी कर्कश लगी।

"यही तो मुसीबत है डार्लिंग, कि तुम उतनी दुष्ट नहीं हो जितना पोज़ करती हो।"

मैं तो हैरत से देखती रह गई।

"हम सब जानते हैं कि तुम्हारे पास इतना प्यार, इतनी ममता है कि सिर्फ उसे छिपाने के लिए तुमने ज़बान पर इतने कांटे उगा रखे हैं; तुम्हारी इस असलियत को सब जान गए हैं। सुशील, शुभा, विभा—यहां तक कि छवि भी तुम्हें पहचान गई है। इसी विश्वास के साथ तो अपना बच्चा तुम्हें सौंपने आई।"

मैं कुछ देर उनकी ओर देखती रही, फिर दीवार की ओर मुंह फेरकर मैंने कहा "…मैं किराये की आया तो नहीं हूं, जो साल-भर लड़के को संभालकर निर्विकार मन से लौटा दूंगी। कलेजे से लगाकर पालूंगी उसे और कल उसकी मां आकर उसे ले जाएगी—न, यह मुझसे नहीं सहा जाएगा। बहुत दुःख उठाए हैं मैंने जीवन में, अब एक और झेलने की सामर्थ्य नहीं है। मैं सुशील को यही सब लिखना चाह रही थी, आप चाहें तो छवि से भी कह दीजिएगा।"

कुछ क्षण कमरा निस्तब्धता में डूबा रहा।

"पद्मा!"

"हूं।"

"इधर देखो।"

"क्या है ?"

"अभी तुमने बहुत सारे दुःखों की बात की थी। उनमें से कितने मेरे नाम चढ़े हैं यह जान लेता तो आश्वस्त हो जाता।"

मैंने उनकी ओर देखा, अंतस् का सारा स्नेह आंखों मे समेटे वह मुझे ही देख रहे थे। और अचानक मुझे लगा कि यह व्यक्ति निरंतर बारह वर्षों से इसी तरह मेरे सामने बैठा हुआ है। मेरी व्यथा-कथा सुनने के लिए अधीर, मेरे घावों पर मरहम लगाने को आतुर इसकी आखें निरतर इसी तरह स्नेह बरसा रही हैं। मैं ही पागल की तरह दूर-दूर भागती रही, अपने ही भय से त्रस्त, तर्कहीन सदेहो से घिरी हुई।

किंतु अगर कोई कहना भी चाहे तो क्या सब कुछ कह पाना इतना आसान है? कुछ कहने को फड़फड़ाए मेरे होंठ और फिर स्थिर होकर रह गए।

उन्हें ही फिर कहना पड़ा, "अच्छे-बुरे क्षण तो सभीके जीवन मे आते हैं, लेकिन उन्हें कोई यों अपने साथ नत्थी नहीं कर लेता। तुम्हारे साथ मुसीबत यह है पद्मा, कि तुम भूलती कुछ भी नहीं हो, इसीलिए मन पर एक भार-सा बना रहता है।"

एकदम खीझ उठी मैं, पल-भर पहले तरल हो आया मन एकदम फुत्कार उठा, "समझते क्यों नहीं आप, कि हर दु:ख क्षणजीवी नहीं होता। कोई आघात ऐसा भी होता है, जो अपनी कसक छोड़ जाता है। कई घाव ऐसे होते हैं, जो अपने व्रण के कारण जीवन-भर याद रहते हैं...उपदेश देना बहुत सरल है आपके लिए, क्योंकि आप नहीं जानते कि सात वर्ष की आयु मे पिता को खो देना क्या होता है। कैसा लगता है जब पिता की मृत्यु के साथ ही अपनों के मुखौटे उघड़ने लगते हैं। कितना दु:ख होता है जब पिता के साथ मां की शांत स्नेहमयी मूर्ति भी खो जाती है। शेष रह जाती है सिर्फ एक हेड मिस्ट्रेस, जो आतंक की सृष्टि करती है, आश्वस्त नहीं करती।"

वह उठकर कमरे में चहलकदमी करने लगे थे।

"मेरे पास भी बचपन की निश्छल हंसी थी, किशोर कल्पनाओं का सुंदर संसार था, खिलती उम्र के मधुर सपने थे। मां के कठोर अनुशासन मे सब कुछ झुलसकर रह गया। सुख-दुःख बंटाने वाली एक बहन थी, शादी

"मज़मून वह नहीं है जो आप समझ रहे हैं।"
"तो फिर शायद छवि के बारे में लिखना होगा, ठीक है न?"
"देखिए, मैंने कल भी आपसे कहा था कि मैं उतनी दुष्ट नहीं जितना [illegible] समझ रहे हैं।" मेरी आवाज़ फिर ऊंची चढ़ गई थी। सूने घर में एक [illegible]-सी पैदा करती हुई अपनी ही आवाज़ मुझे बड़ी कर्कश लगी।
"यही तो मुसीबत है डार्लिंग, कि तुम उतनी दुष्ट नहीं हो जितना पोज़ [illegible]रती हो।"
मैं तो हैरत से देखती रह गई।
"हम सब जानते हैं कि तुम्हारे पास इतना प्यार, इतनी ममता है कि सिर्फ उसे छिपाने के लिए तुमने ज़बान पर इतने कांटे उगा रखे हैं; तुम्हारी इस असलियत को सब जान गए हैं। सुशील, शुभा, विभा—यहां तक कि छवि भी तुम्हें पहचान गई है। इसी विश्वास के साथ तो अपना बच्चा तुम्हें सौंपने आई।"
मैं कुछ देर उनकी ओर देखती रही, फिर दीवार की ओर मुंह फेरकर मैंने कहा "...मैं किराये की आया तो नहीं हूं, जो साल-भर लड़के को संभालकर निर्विकार मन से लौटा दूंगी। कलेजे से लगाकर पालूंगी उसे और कल उसकी मां आकर उसे ले जाएगी—न, यह मुझसे नहीं सहा जाएगा। बहुत दुःख उठाए हैं मैंने जीवन में, अब एक और झेलने की सामर्थ्य नहीं है। मैं सुशील को यही सब लिखना चाह रही थी, आप चाहें तो छवि से भी कह दीजिएगा।"
कुछ क्षण कमरा निस्तब्धता में डूबा रहा।
"पद्मा!"
"हूं।"
"इधर देखो।"
"क्या है?"
"अभी तुमने बहुत सारे दुःखों की बात की थी। उनमें से कितने मेरे नाम चढ़े हैं यह जान लेता तो आश्वस्त हो जाता।"

मैंने उनकी ओर देखा, अंतस् का सारा स्नेह आंखों में समेटे वह मुझे ही देख रहे थे। और अचानक मुझे लगा कि यह व्यक्ति निरंतर बारह वर्षों से इसी तरह मेरे सामने बैठा हुआ है। मेरी व्यथा-कथा सुनने के लिए अधीर, मेरे घावों पर मरहम लगाने को आतुर इसकी आखें निरंतर इसी तरह स्नेह बरसा रही हैं। मैं ही पागल की तरह दूर-दूर भागती रही, अपने ही भय से त्रस्त, तर्कहीन सदेहों से घिरी हुई।

किंतु अगर कोई कहना भी चाहे तो क्या सब कुछ कह पाना इतना आसान है? कुछ कहने को फड़फड़ाए मेरे होंठ और फिर स्थिर होकर रह गए।

उन्हें ही फिर कहना पड़ा, "अच्छे-बुरे क्षण तो सभीके जीवन में आते हैं, लेकिन उन्हें कोई यों अपने साथ नत्थी नही कर लेता। तुम्हारे साथ मुसीबत यह है पद्मा, कि तुम भूलती कुछ भी नही हो, इसीलिए मन पर एक भार-सा बना रहता है।"

एकदम खीझ उठी मैं, पल-भर पहले तरल हो आया मन एकदम फूत्कार उठा, "समझते क्यों नही आप, कि हर दु ख क्षणजीवी नही होता। कोई आघात ऐसा भी होता है, जो अपनी कसक छोड़ जाता है। कई घाव ऐसे होते हैं, जो अपने व्रण के कारण जीवन-भर याद रहते हैं "उपदेश देना बहुत सरल है आपके लिए, क्योंकि आप नहीं जानते कि सात वर्ष की आयु में पिता को खो देना क्या होता है। कैसा लगता है जब पिता की मृत्यु के साथ ही अपनों के मुखौटे उघड़ने लगते हैं। कितना दुःख होता है जब पिता के साथ मां की शांत स्नेहमयी मूर्ति भी खो जाती है। शेष रह जाती है सिर्फ एक हेड मिस्ट्रेस, जो आतंक की सृष्टि करती है, आश्वस्त नहीं करती।"

यह उठकर कमरे में चहलकदमी करने लगे थे।

"मेरे पास भी बचपन की निश्छल हंसी थी, किशोर कल्पनाओं का सुंदर संसार था, खिलती उम्र के मधुर सपने थे। मां के कठोर अनुशासन में सब कुछ झुलसकर रह गया। सुख-दुःख बंटाने वाली एक बहन थी, शादी

देखने दी मां
के वह भी पराई हो गई। उसकी वरसों तक सूरत भी न देखने दी मां
। खुले हाथों विधाता ने रूप लुटाया था मुझपर, एक ही चीज़ थी जिस-
र गर्व था मुझे। लेकिन बीमारियों में वह भी उजड़कर रह गया है।
ंतान भी दी है ईश्वर ने तो दोनों लड़कियां, कल को अपने घर चली
जाएंगी तो बस, बैठकर रोना ही तो है मुझे। यही तो लिखाकर लाई
हूं।"

और एक दीर्घ उसांस लेकर मैं चुप हो गई। इतना थक गई थी जैसे
मीलों का सफर तय करके आई हूं। घूमते हुए यह एकदम मेरे पास आकर
खड़े हो गए थे, "पद्मा !"

"हां।"

"और शेखर दा की वात नहीं कहोगी.?"

शेखर दा की वात। मुझे तो जैसे काठ मार गया।

"अपनी गाथा का जो सबसे दुःखद, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है
जो, उसे ही भूल गईं ?"

मैं विजली की तरह उठ खड़ी हुई, "किसने बताया आपको यह सब ?
मां ने ? रमा ने ?…या शेखर दा ने ?"

"मां ने कब तुम्हारे मन में झांककर देखा है ? रमा को ही कब इतना
अवकाश मिला है, और शेखर दा, उनके पास यह सब देखने वाली आंखें ही
होतीं, तो कहानी कुछ और ही नहीं होती आज ?"

"फिर कहां से जान गए आप सब ?"

"तुमसे। इस तरह चौंको मत, पद्मा। तुम्हारे स्वभाव की ये अने
विसंगतियां खुद अपनी कहानी कहती रही हैं, और साथ में तुम्हारी व्य
में डूबी आंखें, खोया हुआ आत्मविश्वास, तुम्हें हरदम कोंचता हुआ तुम्ह
हीनबोध, मुझे प्रसन्न रखने के तुम्हारे हास्यास्पद प्रयास, मुझे खो देने
तुम्हारा तर्कहीन भय—सभी कुछ तो मेरे सामने था, मैं वेवकूफ न
पद्मा। शेखर दा की तरह अंधा भी नहीं हूं। बहुत पहले जान लिया थ
रमा का जिक्र छिड़ते ही तुम समूची ईर्ष्या से सुलग उठती हो। शेख

१७

कमरे के वातावरण में एक उमस-सी भर गई थी। मैंने पंखा फुल स्पीड पर खोल दिया। फिर खिड़की के पास खड़ी होकर वड़ी देर तक खुली हवा में सांस लेती रही।

यह धीरे-धीरे तैयार हो रहे थे।

"कहीं वाहर जा रहे हैं?"

"हां, आर० टी० ओ० ऑफिस जाऊंगा ज़रा, लाइसेंस रिन्यू कराना है।"

मैं समझ गई, उतनी वड़ी वात कह जाने के वाद कमरे की उमस उन्हें भी व्याप गई थी।

"जाने से पहले एक वात सुनेंगे?"

"कहो।" उन्होंने जूतों के तस्मे बांधते हुए जवाव दिया।

"विश्वास कर सकेंगे?"

"कहो तो।"

"वहुत पहले मैंने एक सपना देखा था। कच्ची उम्र में सभी लड़कियां इस तरह के सपने देखती हैं, तव लगता है जीवन का संपूर्ण सत्य यही है, वाकी सव शून्यवत् है। इस उम्र के सपने ऐसे सर्वव्यापी ही होते हैं। पता नहीं कितने सालों तक उसे अपने गले का हार वनाए रही। फिर जानते हैं

क्या हुआ ? सुशील की शादी मे उन्हें इतने दिनों बाद देखा और अवाक् रह गई। क्या यही है वह अलौकिक व्यक्तित्व, जिसके लिए मैं मीरां बनी हुई थी ? यह नितांत साधारण व्यक्ति रमा का पति-भर हो सकता है। आलोक का पिता हो सकता है। मेरा स्वप्न-पुरुष फिर कहा खो गया ? हैरान थी मैं।"

"कैसा लगा था तब ? बहुत दु ख हुआ ?"

"नही, एक रीतेपन का अहसास-भर हुआ, बस। कितना आश्चर्य है न।"

वे उठकर मेरे पास आए, दोनों कंधों पर हाथ रखते हुए बोले, "इसमें आश्चर्य तो कुछ भी नही है। जीवन मे कितनी ही चीजें तुम्हारे हाथों से फिसलती रही हैं। उनमें एक और नाम जुड गया। सिर्फ एक बात याद रखो पद्मा, कि सब कुछ खो जाने के बाद भी तुम देखोगी कि मैं तुम्हारे पास हूं, हमेशा से था। इट इज ए प्रॉमिज।"

और यह अंतिम बात कहते-कहते उनकी आवाज भारी हो आई थी। मैंने हौले से उनके हाथ हटाते हुए कहा, "बाहर जा रहे थे न आप ?"

"सो तो जा रहा हूं।" वह चलने को हुए और फिर जैसे कुछ याद आ गया उन्हें। दरवाज़े के बाहर से बोले, "सुबह आलोक का टेलिग्राम आया था। दराज मे है, देख लेना।"

"आलोक को तार देने की क्या जरूरत पड गई ?" मैंने पूछा, लेकिन तब तक वह जा चुके थे।

दराज खोलकर मैंने वह गुलाबी कागज निकाला, सफेद पट्टी पर काले अक्षर चमक रहे थे—

"पापा इज नो मोर।"

प्रतिदान

"अम्मा ? आज पूर्णमासी है, तुम कुछ करने के लिए कह रही थीं ?"

"क्या सचमुच आज पूर्णमासी है ?"

"हां, तुम्हें अव क्या तिथियां भी याद नहीं रहतीं, अम्मा ?"

"नहीं रे…सोच रही हूं कि एक महीना हो गया। और उस दिन सोच रही थी कि उसके विना एक दिन भी नहीं जी सकूंगी…"

"अम्मा…"

इसके वाद कान तो कुछ नहीं सुन सके, पर मेरी कल्पना की आंखों ने देख लिया कि मां का सिर वेटे के कंधे पर टिका है और दोनों निःशब्द रुदन में डूव गए हैं। मन कैसा-कैसा हो आया ! मैं भारी कदमों से रसोई की ओर मुड़ गई।

दरअसल मैं इनसे एक वहुत ही ज़रूरी वात कहने गई थी। आज सुवह नहाते समय एक दर्द की लहर शरीर में दौड़ गई थी—वही चिर प्रतीक्षित आशंकित लहर। मैंने सोचा था, इनके दफ्तर जाने से पहले नर्सिंग होम चल-कर चेक करा लेते तो ठीक था। पर ठीक इसी समय उद्धव का प्रसंग छिड़ जाना मुझे वड़ा अशुभ-सा लगा। एक खीझ-सी हुई मन में। क्या मरने के वाद भी उसका साया हमारी गृहस्थी के ऊपर मंडराता रहेगा ?

मेरे इस घर में आने से पहले ही उद्धव मेरे जीवन में आ गया था। अपनी सबसे प्यारी साड़ी पहनकर मैं इनके साथ घूमने गई थी। 'नंदनवन' की हरी-हरी दूब पर बैठते ही इन्होंने बिना किसी भूमिका के कहना प्रारंभ कर दिया था, "संध्या, शादी से पहले मैं अपने घर का चित्र तुम्हारे सामने रखना चाहता हूं। मेरा बहुत छोटा-सा परिवार है। मा हैं, जिन्होंने लाख मुसीबतें झेलकर मुझे इस काबिल बनाया है। दूसरा है उद्धव, मेरा छोटा भाई—१५ वर्ष की कच्ची उम्र में ही बस-दुर्घटना में उसके दोनों पैर बेकार हो गए हैं। पाच वर्षों से वह बिस्तर पर है (यहा इनकी आंखें भर आई थीं), मेरे और अम्मा के आधे प्राण उसीमें बसते हैं। मुझे ऐसी पत्नी चाहिए जो मेरी इन जिम्मेदारियों को खुशी-खुशी बांट सके। तुमसे हो सकेगा यह सब ?"

इन्होंने प्रश्न-भरी आखों से मुझे देखा था। इनके करुण सम्मोहन ने मुझे बाध लिया और उस अनजान अपंग युवक के प्रति मन ममता से भर उठा। यह तो उसी दिन जान गई कि इनके अंदर का पुत्र और भाई इन-पर सदा हावी रहेगा। तब तो इसी बात पर मुग्ध होकर अंतर्मन से इन्हें वर लिया था, और अपने मानस में राम और लक्ष्मण के साथ नित्य नये विनोद की कल्पना में विवाह की तिथि को जोड़ती रही।

शादी इनके ताऊजी के यहां हुई। इस खुशी के मौके पर भी माजी ने अपने बीमार बेटे का साथ नहीं छोड़ा और मेरे मन में उनका आसन और ऊचा उठ गया।

लोकाचार जैसे-तैसे निबटाकर हम लोग पहली बार घर आए थे, वह दिन आज भी भूलता नहीं है। पड़ोसी गिरिजा बाबू स्टेशन पर हमें लेने आए थे। उन्होंने बताया कि नई भाभी को लेकर उद्धव के आनद और उत्कंठा की सीमा नहीं है। माजी के पीछे पड़कर उसने पूरे मकान की सफेदी कर-वाई है। शादी की रात मुहल्ले की औरतों को बुलाकर रतजगा भी करवाया है। बंदनवार उसने खुद अपने हाथों बनाए हैं।

तांगा रुकते ही मैंने देखा, बदनवारों से सजा, लिपा-पुता घर अपनी

स्त दीनहीनता लिए सामने खड़ा था। भाग्य के थपेड़ों के बीच दो
ाथ बालकों के साथ ज़िंदगी की राह पर चलने वाली मांजी का प्रतीक-
ही लगा वह मुझे।

दरवाज़े पर संभवतः पड़ोस की किसी सुहागिन ने हम लोगों की आरती
उतारी। वही मुझे भीतर ले गई।

घर में घुसते ही यह कोने में लगे पलंग की ओर लपके और "भैया" की
पुकार के साथ दोनों एक-दूसरे से लिपट गए। किसी रामलीला में देखे भरत-
मिलाप का दृश्य मेरी आंखों के सामने सजीव हो उठा। फिर उन्होंने मुझे
खींचकर उसके सामने खड़ा कर दिया और कहा, "देख, अपनी भाभी तो
देख; बोल ! पसंद आई कि नहीं ?"

"भाभी" कहते हुए उसने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए। उस स्पर्श से
सिहरकर मैंने अपनी लज्जानत आंखें उठाकर ऊपर देखा।

मेरी कल्पना का उद्धव यह नहीं था। मेरी कल्पना का उद्धव सिनेमा
और उपन्यासों का मरीज़ था—लाख कष्टों के बावजूद जिसके चेहरे की
कांति अक्षय रहती है, वेदना और यंत्रणा जिसे और आकर्षक बना देती है।

मेरे सामने जो उद्धव था, वह यथार्थ का उद्धव था। किशोरावस्था में
ही अपंग हो जाने के कारण वह बुझ-सा गया था। अपनी विवशता की पीड़ा
और कर्मण्यता का अहसास अभावों में पले उसके कंकालप्राय चेहरे को
और भी कठोर बना गया था। हृदय से न सही, पर उसे अपनी समस्त
आंतरिकता के साथ मैं ग्रहण न कर सकी। अपनी कल्पना का यह विद्रूप
मुझसे सहा नहीं गया। एक वत्सल सीता, एक फ्लोरेंस नाइटिंगेल आविर्भा
से पूर्व ही विलीन हो गई।

पता नहीं किस संवेदन शक्ति से उसने मेरे मन को पढ़ लिया और मे
हाथों को थामने वाले उसके हाथों की गरमी धीरे-धीरे लुप्त हो गई। उ
मेरे हाथ छोड़ दिए। "मुझे लिटा दो अम्मा, मैं बहुत थक गया हूं," क
कर उसने आंखें मूंद लीं।

उसकी इस आवाज़ पर पता नहीं कहां से मांजी निकल आई

उन्होंने उसे लिटा दिया। इनका इशारा पाकर मैंने उनके पांव छुए, पर सिर पर ज़रा-सा हाथ रख देने के अतिरिक्त उनके मुंह से आशीर्वाद के दो शब्द भी न निकले। एक ज़बरदस्त अपेक्षा-भंग का वातावरण घर में छा गया था—हम सबके सपने कपूर की भांति उड़ गए थे। मुझसे इस बारे में कभी भी किसीने कुछ नहीं कहा। मैं हमेशा सफ़ाई देने के लिए छटपटाती रही, पर बिना अभियोग के सफ़ाई कैसी?

पम्मी के जन्म के बाद बस इन्होंने इतना कहा था, "एक बार इसे अम्मा को दिखा लाते।" इस बार घर जाने पर मैंने अपने मधुर व्यवहार से माजी का मन मोह लिया। पम्मी तो जैसे उनके गले का हार बन गई थी। अपनी पिछली भूलों का प्रायश्चित्त करने के लिए कृतसकल्प मैं माजी को साथ ले चलने के उपाय कर रही थी। मुझे मालूम था कि इनके मन में हमेशा यह इच्छा रही है। वगने के उस सुनिश्चित कोने की तरह इनके मन का कोना भी खाली-खाली रहता था, यह भी मैं जानती थी। इसलिए उद्धव को भी इस बार मैंने शिकायत का मौका नहीं दिया। उसने कभी कोई उत्सुकता नहीं दिखाई। बीमार व्यक्तियों का अहं वैसे भी भारी होता है। पर मैं अपने कर्त्तव्य-बोध से सब कुछ कर रही थी।

मुझे खुशी थी कि इस बार दिन खैरियत से गुज़र रहे हैं।

शायद चौथे या पांचवें दिन की बात है। मैं नहा रही थी। दो कमरों का छोटा-सा घर था। रसोई बंद करके नहाना पड़ता था। तभी मैंने सुना, उद्धव कह रहा था, "अम्मा, भाभी कहां है?"

"नहा रही है। क्यों रे?" माजी ने पूछा। मुझे भी आश्चर्य हुआ कि आज मेरी क्या ज़रूरत पड़ गई।

"एक बार गुड्डी को मुझे दो न अम्मा?" कुछ क्षण खामोशी रही। "अम्मा, बस थोड़ी-सी देर को।"

इस बार उसके स्वर में बला की आजिज़ी थी। शायद तभी तो मांजी से नहीं रहा गया होगा। उसका असीम दैन्य मुझे खल गया। मुझसे छिपाकर मेरी बच्ची को देखने का प्रस्ताव ऐसा ही कुत्सित लगा, जैसे मेरी अनु-

परिस्थिति में किसीने मेरे ज़ेवरों का वक्स खोल लिया हो। उसके कंकालप्राय खुरदरे हाथों द्वारा पम्मी के शरीर के सहलाए जाने की कल्पना से मैं सिहर उठी। क्या पता उसने अपने घिनौने मुख से उसे चूम भी लिया हो।

पता नहीं कौन-सी वात मेरे मन में गड़ गई कि किसी तरह वेतरतीवी से साड़ी पहन मैंने दरवाज़ा खोल दिया और झपटकर उसकी गोद से पम्मी को उठा लिया। उसे छाती से लगाए मैं मुड़ी ही थी कि मांजी से आंखें मिल गईं। वेटे का अपमान वहां प्रतिविवित हो उठा था। पता नहीं वहां क्या-क्या था—क्रोध, अपमान घृणा···पर मेरा साहस न हुआ कि उनकी ओर देख सकूं।

घर की यह मेरी अंतिम यात्रा थी। यह तो हर दूसरे-तीसरे महीने जाते और एक उदासी की पर्त-सी ओढ़कर वापस आ जाते। कई वार मन हुआ कि जाकर उसे देख आऊं। उन लोगों की गलतफहमियां दूर कर आऊं, पर अपने पर से विश्वास ही जैसे उठ गया था।

विधि का विधान भी कैसा है? उसके अंतिम समय भी जाना न हो सका। वह ही गए और आते समय मांजी को ले आए। जो कमरा वर्षों से उद्धव और मांजी की प्रतीक्षा करता रहा था उसमें मांजी अकेली आईं थीं। उनके साथ आई थी शोक की एक काली छाया, जो निरंतर घर पर छाई रहती। उनके आते ही घर एकदम छोटा हो गया था और प्रच्छन्न रूप से दो दलों में वंट गया था। मैं कितनी अकेली पड़ गई थी?

"संध्या, तुम्हारा जी कैसा है?"

मैंने चौंककर देखा, कुरसी की पीठ पर हाथ रखे यह खड़े थे। "इधर से गुजरा तो देखा डाइनिंग टेवल पर सिर रखे सो रही हो। पहले तो सोचा सो लेने दो, पर देखता हूं चेहरा वेहद उतरा हुआ है—खैरियत तो है?"

"मेरा खयाल था—एक वार नर्सिंग होम हो आते।"

"ज़रूर, ज़रूर," वे वोले और तेज़ी से वाहर निकल गए। कुछ ही देर में हम लोग गाड़ी में सड़क नाप रहे थे। तव खयाल आया, चलने से पहले

मांजी से कहना चाहिए था पर घबराहट में याद न रहा।

नर्सिंग होम पहुंचने-भर की देर थी। उन लोगों ने मुझे हाथोंहाथ लिया और दूसरे ही क्षण मैं प्रसूति-कक्ष में थी। मुझे मिस्टर के हाथ सौंपकर वह चले गए थे—दफ्तर या क्या पता बाहर ही बैठे हों। सफेद कपड़ों में लिपटी उन नर्सों के बीच मैं अपने-आपको नितांत असहाय और अकेला अनुभव करने लगी। पम्मी के समय की यादें अपनी सारी वहशत के साथ मुझपर हावी हो गईं और मेरा दम घुटने लगा। उसी समय दरवाज़ा खुला और डॉक्टर अलकारानी ने कहा, "मिसेज़ श्रीधर, आपकी सास आई हैं।"

मैंने देखा, मांजी अपराधी-सी मुद्रा में सिरहाने खड़ी हैं। "मुझसे रहा नहीं गया। बिटिया दुलारी को साथ लेकर चली आई।"

"ठीक है।" मैंने कहा। मुझे बड़ी शर्म आ रही थी। घर से निकलते समय इनसे कहकर भी नहीं आ सकी थी।

उसी समय दर्द की एक लहर उठी और मैंने "ओ मां" कहकर मांजी के दोनों हाथ पकड़ लिए। पीड़ा के वे क्षण बीत जाने पर भी मुझे याद रहा कि वे दुबले-खुरदरे हाथ अजीब-सी ममता से भीगे हुए थे। उस समय भी वह माथा सहला रही थीं और मुझे अच्छा लग रहा था।

दर्द के वे क्षण कितनी बार दोहराए गए। मांजी हर बार मेरे साथ पसीने से नहा आती थीं, मानो मेरी पीड़ा को वह अणु-अणु के साथ अनुभव कर रही थीं। डॉक्टर ने दो-तीन बार आदर से, फिर कुछ रुखाई से उनसे धीरज रखने के लिए कहा। एक बार तो दबी ज़बान से बाहर बैठने का भी अनुरोध किया। पर मैं उन्हें दृढ़ता से पकड़े रही। उन भावविहीन चेहरों के बीच उन्हींका चेहरा तो था जो मेरी वेदना से विह्वल हो रहा था। मेरी पीड़ा को एक अकेली वह ही तो समझ रही थीं, क्योंकि सृजन की यह पीर उन्होंने भी सही थी।

फिर एक अजीब-सा विचार मन में आया। जिसे इतनी पीड़ा के साथ जन्म दिया गया हो, उसे अपनी ही आंखों के सामने तिल-तिलकर मृत्यु के मुख में जाते देखना कितना दु:ख देता होगा? किस तरह सहा होगा उन्होंने उसे?

कौन-सी पीड़ा अधिक कठिन है—जन्म की या मृत्यु की ? पाने की या खोने की ? अपने विचारों के रेले में मैं देख रही थी कि डॉक्टर और नर्स दोनों के चेहरे बदहवास-से लग रहे थे। मैं अपने-आपको किसी बर्फीले प्रदेश में जाते हुए देख रही थी। वे लोग विचित्र दृष्टि से मुझे घूर रहे थे। हर पांच मिनट पर तड़पा देने वाली वे दर्द की लहरें पता नहीं कहां खो गई थीं। उनकी प्रतीक्षा में कमरे में एक तनाव-सा भर गया था।

मुझे मम्मी बेतरह याद आ रही थीं। वह हमेशा कहती थीं कि डिलीवरी में दोनों का जन्म होता है—मां और बेटे का। तभी तो ४२ वर्ष की उम्र में शिशु को जन्म देने की पीड़ा उनसे सही नहीं गई। ऑपरेशन रूम से बाहर लाते हुए स्ट्रेचर पर उनका सफेद निष्प्राण चेहरा बार-बार आंखों के सामने आ रहा है।

कैसा होता होगा मरण-पार का देश ? क्या वहां जाने पर मम्मी से फिर भेंट हो सकेगी ? और उद्धव, क्या वह भी मिलेगा ? उसकी करुण-असहाय आंखों का अभियोग क्या अब भी उतना ही ताज़ा होगा ? अपनी सफाई में मुझे क्या कहना होगा ?

स्स...इंजेक्शन की जैसे कई एक सुइयां चुभो दी गई हों, पर मेरी चेतना लौट आई। और कम्बख्त वही दर्द फिर उभर आया। सफेद कमरा, सफेद चमकीले बल्ब, सफेद वस्त्रों में लिपटी नर्सें, सब जैसे घूम गए। केवल दो दुबले-खुरदरे हाथ स्थिर थे, जो मेरे माथे पर थे।

शिशु के कर्कश रुदन से कमरा भर उठा, तनाव टूटने लगा था और हर चीज़ जैसे फिर अपनी जगह पर लौट आई थी।

डॉक्टर अलका कह रही थी, "मांजी, मुबारक हो, पोता हुआ है।"

मांजी ने हाथ जोड़कर कहा, "वह तो जो भी है, भगवान की देन है, पर आपने मेरी बेटी को बचा लिया..." इससे आगे वह कुछ न कह सकीं। उनका गला रुंध गया। सिस्टर ने उन्हें सहारा देकर बिठा दिया।

थकान से बोझिल पलकें उठाकर मैंने देखा, उनका चेहरा भी बेहद थका हुआ लग रहा था। जैसे पीड़ा का हर क्षण उन्होंने मेरे साथ जिया

आनन्दी

गाड़ी में अकेले बैठे-बैठे मैं बोर हो चली थी। धूप में चिलचिलाती हुई सड़क को पार करके मेरी आंखें बार-बार उस इमारत से टकरा जाती थीं, जिसमें वह छोटी-सी डिस्पेन्सरी थी—जहां सुन्दरसींग सुबकती हुई पूनम को लेकर गया था। अजीब-सा माहौल था वहां का, ऊपर की दोनों मंज़िलों में छोटे-छोटे कबूतरखानेनुमा फ्लैट्स बने हुए थे। नीचे ढेर सारी दुकानें थीं। मोहन डेरी, शिव शंकर पान भंडार, कृपाल टी हाउस, एवरेडी लांड्री, न्यू स्टाइल हेयर ड्रेसर्स और भी न जाने क्या-क्या। उन सबके चमकते साइनबोर्ड्स की भीड़भाड़ में डॉ० आहूजा की वह छोटी-सी सफेद नेमप्लेट खो-सी गई थी। सुन्दरसींग का ध्यान न जाता तो शायद हम लोग यहां रुकते भी नहीं।

पता नहीं कैसी क्या डिस्पेंसरी है, साथ चली जाती तो ठीक था। यहां बाहर बैठे-बैठे मेरी खीझ धूप के साथ क्रमशः बढ़ रही थी। सबसे ज्यादा गुस्सा तो इस शैतान छोकरी पर आ रहा था। अपने खेल-खिलौने छोड़कर वहां कबाड़खाने में आने की क्या जरूरत थी! पता नहीं उसे सामान अनपैक होते हुए देखने में क्या मजा आता है। बैठे-बिठाए हो गई न मुसीबत। कितनी बड़ी लोहे की पत्ती थी, सीधी धंसती ही चली गई पैर में। बच्चों की स्किन तो होती ही नाजुक है। ओफ, कितना खून निकला था! मुझे

तो चक्कर-सा आने लगा था देखकर। वह तो पता नहीं सुन्दरसींग ने ही क्या-क्या लगाया तब जाकर खून बन्द हुआ था।

इतना गुस्सा आता है इनपर। इस अजनबी शहर में लाकर पटक दिया और चल दिए टूर पर। बस, कह दिया, "अरे भाई, अभी तो सुन्दरसींग है चार-पांच दिन तक।" उसे भी तो मैं ही ज़िद करके लाई हूं। यहां वालों के भरोसे रहती तो घर सेट करने में छ महीने लग जाते। पता नहीं कैसे लोग हैं, ज़रा भी मुरव्वत नहीं, मुलाहिज़ा नहीं। अदब-कायदा तो जानते भी नहीं। सच, छोटी जगहों में इन बातों का बड़ा आराम होता है।

और पड़ोसी भी किस कदर रूखे हैं, इतना रोना-पीटना हो गया, पर कोई झांका भी नहीं। वहां होते तो अभी सारी कॉलोनी जुड़ जाती। अस्पताल तक मुझे आना भी न पड़ता और जाती भी तो क्या इस तरह टुकुर-टुकुर सड़क तकती बैठी रहती! खुद डॉक्टर साहब आकर भीतर लिवा जाते।

"हुज़ूर। डॉक्टर साहब अन्दर बुला रहे हैं।"

मैंने चौंककर सिर उठाया। सुन्दरसींग सचमुच खड़ा हुआ था। खिड़की के पास उसने दुबारा अपना संदेश दुहराया तो मैंने पूछा, "मुझे क्यों बुला रहे हैं। फीस के पैसे तो दिए थे न तुझे। और बेबी कहां है?"

"बेबी अभी अन्दर ही हैं। डॉक्टर साहब कुछ पूछ रहे थे। मैं समझ नहीं पाया। हुज़ूर खुद चली जाएं तो अच्छा हो।"

भुनभुनाते हुए गाड़ी से उतरकर मैंने सड़क पार की। सीढ़ियां चढ़ते ही दवाइयों की मिली-जुली तेज़ गंध से मेरा माथा घूम गया। किसी तरह अपने ऊपर काबू पाकर मैंने भीतर प्रवेश किया। सामने डॉक्टर की कुर्सी खाली थी और दोनों ओर दीवार से लगी बेंचों पर मरीज़ बैठे हुए थे। कोने वाली एक बेंच पर पूनम लेटी थी। उसके पांव में बड़ा-सा बैंडेज बंधा था। उसका सिर एक अपरिचित महिला की गोद में था और वह थकी-सी आवाज़ में रह-रहकर 'मम्मी' की रट लगाए हुए थी।

मेरी सारी खीझ, सारा गुस्सा पता नहीं कहां चला गया। मैंने लपक-

कर उसे गोद में उठा लिया और वहीं बैठकर उसे दुलारने लगी। मुझे देखकर उसकी रुलाई फूट पड़ी और मैं उसे पुचकारने लगी।

वह महिला मुझे लगातार घूरे जा रही थी। मेरी दृष्टि पड़ते ही बोली, "आप इसकी मम्मी हैं ? फिर आप बाहर क्यों बैठी रह गई थीं ?"

उसकी धृष्टता पर मुझे बहुत गुस्सा आया। अपनी नाराजी को भरसक चेहरे पर उतारते हुए मैं चुप बनी रही।

उसने फिर कहा, "आपको साथ आना चाहिए था। बहुत रोई थी बेचारी। मां साथ रहे तो बच्चों को धीरज बंधता है। नौकर तो नौकर ही होते हैं।"

मैंने फिर भी कोई जवाब नहीं दिया और उठकर डॉक्टर साहब क मेज के पास खड़ी हो गई। कम्बख्त सुन्दरसींग भी बाहर बैठा रह गया था। साथ रहता तो कम से कम इस देवीजी को बतलाता तो, कि वह किससे बात कर रही हैं और कैसे बात करनी चाहिए। अभी कुछ देर पहले पूनम को उनकी गोद में देखकर धन्यवाद देने की बात मन में उठी थी पर अब तो कोई सवाल ही नहीं था।

एक हिकारत-भरी नजर उस ओर फेरकर मैंने आवाज़ को यथाशक्ति दबंग बनाते हुए डॉक्टर साहब से पूछा "आपने बुलाया था ?"

डॉक्टर साहब अभी-अभी भीतर से आए थे, तौलिये से हाथ पोंछते हुए बोले, "बेबी को ए० टी० एस० लगाना बहुत जरूरी है। पहले कभी लगाया है यह इंजेक्शन ?"

"ठीक से याद नहीं है। आज-भर राह देख लीजिए। कल तक शायद इसके डैडी आ जाएं।"

"वेट करने की तो कोई जरूरत ही नहीं है। रिएक्शन देख लेते हैं।" डॉक्टर साहब ने कहा और नर्स को सिरिंज लाने का ऑर्डर दिया। सारी तैयारी देखकर पूनम ने मुझे कसकर पकड़ लिया और सहमी-सहमी नज़रों से डॉक्टर की ओर देखने लगी। तब मुझे भी भान हुआ कि उतने बड़े जख्म का ड्रेसिंग करते समय वह कितना तड़पी होगी, घबराई होगी ? मैं

रही दिलेरी से इजेक्शन के दोनों राउंड्स में उसे थामे रही। पर जिसे दिखाने के लिए यह सब कर रही थी वह तो उसे टा-टा करके कब की जा चुकी थी।

घर लौटकर सुन्दरसींग ने बताया कि बेबी बहुत घबरा गई थी। वह तो उन बहनजी ने बातों में उन्हें बहलाए रखा नहीं तो बहुत मुसीबत हो जाती। सुनकर मैं उल्टे उसीपर बरस पड़ी। "बेवकूफ, मुझे भी तो आवाज दे सकता था! बेकार किसीके अहसान लेने की क्या जरूरत थी?"

दूसरे दिन सुबह सवेरे ही यह लौट आए। मैं तो भरी बैठी थी। उनके घर में पाव रखते ही बरस पडी। महानगर ने दो दिन में ही मुझे पस्त करके रख दिया था। यहा का मकान, यहा का नौकर, यहा के पड़ोसी, यहा के डॉक्टर—सभीसे मुझे नफरत हो गई थी। यह खुद तो ऑफीसर बने मौज मार रहे थे और यहा सारी समस्याओं से मैं अकेली ही जूझ रही थी। दर्जी, धोबी, डॉक्टर, मास्टर सभीका इन्तजाम मुझे ही करना था। कम से कम मेरी नाजुक हालत का ही खयाल किया होता"।

कुछ देर तक तो यह चुपचाप मेरा भाषण सुनते रहे। फिर एकदम ताव खाकर उठे और सुन्दरसींग को लेकर बाहर निकल गए। चाय तक नहीं पी। आधे घंटे बाद लौटकर आए और बोले, "कम्पाउडर साथ लेता आया हू, पूनम की ड्रेसिंग करवा लो। और शाम को पाच बजे टीचर आएगी, बच्चों वाला कमरा सेट करके रख देना।"

'टीचर की इतनी क्या जल्दी थी?' मैंने कहना चाहा पर वे अबाउट टर्न कर गए थे। उनका कसैला स्वर सुनकर ही समझ गई थी कि अब चुप रहने की बारी मेरी है। दरअसल मुझे ही कुछ मन से काम लेना था। आते ही उनका मूड खराब कर दिया।

शाम ठीक पाच बजे दरवाजे की घंटी बजी। सुन्दरसींग दरवाजा खोलने गया तो बड़ा खुश-खुश लौटा। "हुजूर, यह तो वही अस्पताल वाली बहनजी हैं। चलिए अच्छा हुआ, बेबी को उनसे डर नहीं लगेगा।"

मैंने उत्सुकतावश कमरे में झांककर देखा, हमारी उपदेशिका जी

सहमी-सिमटी एक कुर्सी पर बैठी थीं और कमरे के साज-समान को अवाक् होकर देख रही थीं। मुझे लगा था, मुझे देखकर वह सकापका जाएंगी। पर कहां ! वह तो एकदम प्रसन्न मुद्रा में उठ खड़ी हुईं और मुस्कराते हुए बोलीं, "देखिए न बहनजी, कैसा संयोग है। कल ही आपसे परिचय हुआ, आज यहां भेंट हो गई। सुबह डॉक्टर साहब का सन्देश मिला, तब तो यह कल्पना भी न थी, कि हम अपनी नन्हीं सहेली के यहां जा रही हैं।"

"आपको डॉक्टर साहब ने भेजा है ?"

"हां, सुबह शायद साहब ने उनसे बात की होगी।"

"ओह तभी !" नहीं तो मैं खुद हैरान थी, कि इतनी जल्दी इन्हें टीचर कहां से मिल गई।

"बेबी कहां है ?"

"उसे तो अभी रहने दीजिए। आप तो अभी पप्पू को, मेरा मतलब है पुनीत को ही तैयार कीजिए। यहां सुनते हैं सभी बड़े स्कूल्स में पहले टेस्ट लेते हैं, तभी एडमिशन मिलता है।"

उतनी देर में सुन्दरसींग पूनम को गोद में उठाकर ले आया था और वह परिचित चेहरा देखते ही किलक पड़ी थी। "नमस्ते आंटी" उसने कहा और उनके गले में दोनों बांहें डालकर झूल गई।

"तुम्हारा पांव अब कैसा है बेबी ?"

"दुखता है," पूनम ने चेहरे को सलवटों से भरते हुए उत्तर दिया, "पर पता है, आज मैं रोई नहीं। दवाई लगाने आए थे न, तब भी नहीं रोई। है न मम्मी ?" उसने गवाही के लिए मुझे पुकारा। पर मैं कुछ नहीं बोली।

"अरे वाह, हमारी पूनम तो बहुत [illegible] है।"

"आप उसे लाईं क्यों नहीं ?"

"उसे पढ़ना-लिखना अच्छा थोड़े ही लगता है। बस, दिन-भर खेलना और खाना। [illegible] ही नहीं !"

"मैं तो खुद पढ़ती हूं न मम्मी !" उसने [illegible] मुझसे [illegible]। [illegible] तो मुझे [illegible] ही रही।

"जाओ, अपनी किताबें लाओ और भैया को बुला लाओ।"

सुन्दरसीग की गोद मे बैठकर जब वह चली गई तो मैंने पूछा, "आपकी बेबी का नाम भी पूनम है ?"

"नही, मैं तो मजाक कर रही थी। बेबी का मन बहला रही थी।"

"कितने बच्चे है आपके ?"

"दो लड़कियां हैं, बस्स !"

"और लड़का ?"

उन्होंने सिर हिलाकर नकारात्मक उत्तर दे दिया।

"अरे !" बिना वजह मेरा स्वर सहानुभूति से आर्द्र हो उठा।

"क्या फर्क पडता है बहनजी।" मेरी सहानुभूति को व्यर्थ करते हुए उन्होने लापरवाही से कहा, "यहा कौन पेशवाओं की जागीर पडी हुई है, कि उसके लिए वारिस जरूरी है। अपने लिए तो दोनों बराबर हैं।"

उनका यह बेफिक्र लहजा मुझे ईर्ष्या से भर गया। यहा तो इतना निश्चित होना कभी आया ही नही। पुनीत के बाद पाच साल तक बच्चा घर मे नही आया तो मैं घबरा उठी थी। इस बार लगता है, कि बहुत जल्दबाजी हो गई है। पता नही कैसे सम्भाल पाऊगी। पूनम के वक्त डर लग रहा था कि कही फिर से लडका न हो जाए। अब लगता है, कि फिर लड़की हो गई तो—एक चिन्ता दहेज की ही मुझे रात-रात सोने नही देती। इनसे तो कुछ भी कहो मजाक मे टाल देंगे।

रात मैंने कहा, "सुनिए, टीचर ढूढ़ने में तो आपने बहुत फुर्ती दिखाई है। उसकी क्वालिफिकेशन्स का तो पता कर लिया था न !"

"तुम्हारे लड़के को सिक्स्थ में एडमिशन चाहिए न ! इतना तो उसे आता ही होगा। माई डियर लेडी, शी इज़ ए रेग्यूलर टीचर।"

"तभी तो, बहनजी, बहनजी कहती रहती है। इतना ऑकवर्ड लगता है।" अब मैंने अपने मन की असली बात प्रकट की।

"तो क्या कहकर पुकारे कोई आपको ? मैडम ?" इनके स्वर मे व्यंग्य का पुट था। "दरअसल कुमुद जी, महत्त्वपूर्ण यह है कि आप उन्हें क्या कह-

कर पुकारती हैं। तुम्हें तो मालूम है डियर, इस घर में मैं किसी भी टीचर का अनादर बर्दाश्त नहीं कर सकता।"

"मालूम है बाबा, कितनी बार एक ही बात कहेंगे।" मैंने बेज़ारी से कहा और उनके इस प्रिय विषय को बन्द कर दिया। नहीं तो अभी रामायण खोलकर बैठ जाएंगे कि हमारे पिताजी हेडमास्टर हैं, हमारी बुआ टीचर थीं, चाचा टीचर थे। हमारे नाना संस्कृत के पंडित थे और मामा फारसी के विद्वान हैं—पता नहीं मास्टरों के परिवार में ये अनोखेलाल कहां से पैदा हो गए?

और इतना अभिमान है इन्हें अपने खानदान का कि हर किसीके सामने बचपन की गाथा लेकर बैठ जाएंगे। कभी-कभी तो मेरी पोज़ीशन इतनी विचित्र हो जाती थी…

बच्चों की टीचर को पुकारने की सचमुच एक समस्या थी। 'बहन जी' मेरी ज़बान पर चढ़ता नहीं था और मुसीबत यह थी कि उनका नाम तक हमें मालूम न था। डॉक्टर साहब ने शायद इन्हें बताया भी हो पर वह उस दिन इतने तैश में थे कि बाहर आते ही सब कुछ भूल गए।

दो-चार दिन बाद मौका लगने पर मैंने ही पूछ लिया, "आपको क्या कहकर बुलाया जाए?"

मेरा प्रश्न समझने में उन्हें कुछ समय लगा। फिर धीरे से बोलीं, "कहने को तो लोग मुझे मिसेज़ आचार्य भी कहते हैं। वैसे नाम मेरा आनन्दी है। आपको जो भी अच्छा लगे, कह लें।"

"आनन्दी, नाम तो बहुत अच्छा है। मेरी एक मौसी हैं—उनका भी यही नाम है।"

"जी हां, नाम तो अच्छा है, मां-बाप ने बहुत सोच-समझकर रखा है। जीवन में न सही, नाम में तो आनन्द है ही।" उन्होंने कहा और हंस दीं। इतनी बड़ी बात के साथ यह हंसी बड़ी बेतुकी लगी।

मैंने कहा, "चलिए, आप नाम तो सार्थक कर रही हैं। हमेशा खुश

रहती हैं।"

"खुश रहे बिना चारा ही क्या है? अपने सारे दु:ख ओढ़कर आपके घर जाऊं, तो आप मुझे गेट से ही विदा कर दें। इसलिए अपने राम तो मस्त रहते है।" उन्होंने कहा और उसी शाही अन्दाज़ से अपना बैग कंधे पर टांगकर नमस्ते की और चल दीं।

पता नहीं लोग इतने मस्त कैसे रह लेते हैं? यह औरत अपनी खड़-खड़िया साइकिल बरामदे से टिकाकर जब भी घर में दाखिल होती है तो एक मुस्कान के साथ। उसके चेहरे की रंगत बतलाती है कि वह दिन-भर धूप में यहां-वहां घूमती रही है पर थकान का ज़रा-सा चिह्न भी उसके व्यवहार में नहीं होता।

वही ताज़ादम खिलखिलाहट, वही बच्चों का-सा उत्साह। यों घर-घर ट्यूशन्स करने के पीछे भी कोई मजबूरी रही होगी। लेकिन इस बात को भी वह अपने 'फिकर नॉट' अन्दाज़ में ही बयान करती। कहती, "ये सप्ली-मेंटरी वाले विद्यार्थी मुझे बहुत अच्छे लगते है। अगर सबके सब पास होने लगें, तो मेरा क्या हो! स्कूल से अपने राम को हर साल अप्रैल में छुट्टी मिल जाती है।"

"आपके हस्बैंड क्या करते है?" एक बार मैंने उत्सुकतावश पूछ ही लिया था।

"क्या करेंगे, बस राज करते हैं।" उसी लहजे में उत्तर मिला था। समझ गई थी, कि बहुत छोटी-सी पोस्ट पर होंगे। तभी न बेचारी इतनी परेशानी उठा रही है। और पता नहीं इतनी परेशानी के बावजूद बेचारी कैसे इतनी खुश रह लेती है। चेहरे पर कभी कोई शिकन नहीं, परिस्थिति के लिए मन में कोई कड़वाहट नहीं।

और एक मैं हू, मुझे तो लगता है जैसे संसार में मुझसे ज्यादा दु:खी प्राणी कोई और है ही नहीं। नौकरी की एक बटालियन पीछे छूट जाने का दु:ख हमेशा सालता रहता है। ऊपर से मकान इतना छोटा मिला हुआ है कि लगता है चारों ओर से मुझे लीलने को ही दौड़ा आ रहा है। शिकायत

क़रो तो यह कह देते हैं कुछ सामान कम कर दो। सुनते ही मुझे तो रोना आ जाता है। इतनी हसरत से जमाई हुई गृहस्थी है मेरी; कौन-सी चीज़ फ़ालतू है जो उठाकर फेंक दूं।

नई परिस्थितियों से समझौता करते-करते इतनी पस्त हो गई मैं कि एक दिन बुखार ही हो आया। यह तो हस्ब मामूल दौरे पर ही थे। किसी तरह चपरासी से कच्ची-पक्की रोटियां सिकवाकर बच्चों को खाना दिया और पड़ रही। इतना गुस्सा आ रहा था इनपर—एक तो ऐसी सड़ी-सी जगह में लाकर पटक दिया, ऊपर से यह भी नहीं, कि ढंग का कोई नौकर ही ढूंढ़कर दिया होता।

मिसेज़ आचार्य उस दिन ठीक बेडरूम के दरवाज़े पर ही आकर खड़ी हो गई, "बेबी ने बताया कि आपकी तबीयत ठीक नहीं है।"

और कोई दिन होता तो मुझे इनकी यह हरकत शायद अच्छी न लगती। पर उस दिन मैं तरस गई थी, कि कोई आकर मेरा हाल पूछे।

"आइए न!" मैंने उठकर उनके लिए जगह बनाते हुए कहा।

पर वह पलंग पर नहीं बैठीं। ड्रेसिंग टेबल वाला स्टूल खींचकर उसपर बैठती हुई धीरे से बोलीं:

"साहब शायद यहां नहीं हैं?"

बस, मुझे तो बहाना मिल गया। पता नहीं कितनी देर तक मैं बड़-बड़ाती रही। उस समय यह भी भान नहीं रहा कि इतनी सारी बातें हर किसीके सामने करनी भी चाहिए या नहीं। अपना ज्वार खत्म होते-होते मैंने अनुभव किया कि इस बीच उनकी आंखें बराबर मुस्कराती रही हैं। शायद मेरी सारी बकवास को उन्होंने पूनम और पुनीत की नोंक-झोंक से ज्यादा महत्त्व नहीं दिया था। इसका अहसास होते ही एकदम मुंह फुलाकर चुप हो गई मैं।

मेरे चुप होते ही वह अपने हमेशा वाले अन्दाज़ में बोली, "आप बीमार हैं न, इसीलिए इतनी परेशान हो रही हैं। नहीं तो, सच बात तो यह

है कि मर्द बाहर रहते ही अच्छे लगते हैं। घर लौटने में देर-सबेर हो जाए तो गुस्सा तो जरूर आता है, लेकिन ये लोग घर में रहें न, तो परेशान कर डालते हैं। ठीक कह रही हूं न !"

और उस प्रश्न पर मुझे एकदम हंसी आ गई। अपनी पहली वाली कोफ्त भूलकर मैं इनकी तानाशाही के किस्से लेकर बैठ गई, "बाप रे, घर में रहते हैं तो सबकी अच्छी परेड हो जाती है। ये किताबें कैसी फैली हैं? यह वॉश बेसिन कितना गन्दा हो रहा है? ये जाले कब से नहीं निकाले गए? यह निटिंग घर-भर में क्यों घूम रही है—तब तो सचमुच ऐसा लगता है कि ये महीने में दस दिन बाहर रहते हैं तो बीस दिन रहा करें।"

शाम होते-होते मेरा गुस्सा उतर गया था, और बुखार भी।

कुछ लोग होते ही ऐसे हैं कि उनके साथ आदमी अपनी सारी परेशानियां कुछ समय को भूल जाता है। यह बात चाहे मैं सबके सामने स्वीकार न करूं, लेकिन यह सच है कि मिसेज आचार्य से बात करने के बाद बड़ी से बड़ी समस्या भी छोटी-सी नजर आने लगती थी। उनकी खुशमिजाजी की जैसे मुझे छूत लग जाती थी। (उनका असर बहुत देर तक नहीं रहता था, सो बात अलग है।)

जिस दिन पुनीत की टी० सी० और प्रोग्रेस कार्ड डाक से मिले थे उस दिन मैं इसी तरह मायूस बनी गुमसुम बैठी हुई थी। यही इन्तज़ार था कि कब पांच बजें और यह घर आएं। आज लड़ाई होना निश्चित था। इतना मना किया था मैंने, ट्रांसफर रुकवा नहीं सकते तो छुट्टी तो ले सकते हैं। आप चले जाएंगे तो डिस्टर्ब हो जाएगा बेचारा। पर यह तो अपने मन की करके रहे। सरकार के वफादार नौकर जो ठहरे।

घर में बैठना असह्य हो गया तो मैं बाहर आकर लॉन में टहलने लगी। ठीक पांच बजे मिसेज आचार्य की [illegible] [illegible] गेट के अन्दर दाखिल हुई।

"अरे! तबीयत तो ठीक है न आपकी? चेहरा कैसा उतरा-उतरा सा

रहा है आज ?" उनकी तेज़ निगाहों ने आते ही मेरा परीक्षण कर डाला।

"मैं वताऊं आण्टी, भैया का रिज़ल्ट आया है आज।" हमारी चुन-मुनिया को वीच में वोले विना चैन कहां।

"भैया का रिज़ल्ट आया है ! पास तो हो गए हैं न !" उन्होंने सशंकित स्वर में पूछा।

"पास तो हो गया है। ८१% मार्क्स हैं।" मैंने मरी-सी आवाज़ में कहा।

"अरे वाह, तव तो मिठाई खिलाइए। आपकी शक्ल देखकर तो मैं डर गई थी। इतना अच्छा तो रिज़ल्ट है।"

"क्या खाक अच्छा है। क्लास में थर्ड आया है।" मेरी आवाज़ ऐसी थी, कि वस रो ही पड़ूंगी।

"तो उससे क्या फर्क पड़ता है। मार्क्स तो कितने अच्छे हैं। आप तो फौरन मिठाई मंगवाइए। और पुनीत है कहां !"

"भैया तो सो रहे हैं दिन-भर।" पूनम ने वताया।

"हाय वेचारा, आपको उदास देखकर नर्वस हो गया होगा। मैं तो वहनजी, लड़कियों के पचपन प्रतिशत नम्वर भी आ जाते हैं तो खूव शावाशी देती हूं। अरे, हमसे तो अच्छी है। यहां तो हमेशा जनता क्लास ही आती रही है। वस, फेल कभी नहीं हुए। खींच-खींचकर गाड़ी वी०ए० तक पहुंचा ही दी। वही अव काम आ रहा है।"

और आधा घंटे वाद चाय छानते हुए मैं इनसे कह रही थी, "पुनीत का रिज़ल्ट आया है आज। इक्यासी पर्सेंट मार्क्स हैं।"

"और रैंक ?"

"रैंक तो खैर थर्ड आया है। पर उससे क्या फर्क पड़ता है। मार्क्स तो देखिए न, कितने शानदार हैं। अपने तो पचपन प्रतिशत से आगे कभी वढ़े ही नहीं।"

वाद में स्वयं मुझे ही आश्चर्य हुआ, कितने सहज भाव से कह गई थी

आत्मकेन्द्रित होने की भी सीमा होती है और मैंने शायद उस सीमा को पार कर लिया था। क्योंकि लगातार एक हफ्ते तक जब मिसेज़ आचार्य नहीं आई तब भी सिर्फ यही चिन्ता बनी रही कि बच्चों के टर्मिनल्स सिर पर हैं, कहीं फेल न हो जाएं। यह कभी सोचा ही नहीं कि उनकी अपनी भी समस्या हो सकती है कोई। नहीं तो इतनी रेग्यूलर रहने वाली वह इतने दिन तक घर न बैठतीं।

साहब बहादुर भी एक दिन बोले, "दिन-भर भुनभुनाती रहती हो। किसी दिन हरीराम को घर भेजकर पता ही करवा लेतीं।"

"घर का पता यहां किसके पास है?" मैंने मुंह फुलाकर कहा।

"मेरे पास है। आज गाड़ी नहीं ले जाऊंगा। तुम शाम को खुद ही उनके यहां चली जाना।"

"मैं खुद! अरे वाह!"

"सच कह रहा हूं कुमुद। दरअसल वह बड़ी विचित्र परिस्थिति में फंस गई हैं। उनकी बड़ी बेटी किसीके साथ भाग गई है। शायद हम उनकी कुछ मदद कर सकें। कम से कम पूछ तो लें ही।"

"आपको कैसे पता चला?"

"कल दफ्तर में बात हो रही थी। वैसे ४-५ रोज़ पहले पेपर में भी पढ़ा था। पर तब यह पता नहीं था कि यह वीणा आचार्य उन्हींकी लड़की है।"

मैं चुप ही रही, क्योंकि मैं पेपर सिर्फ सिनेमा के विज्ञापनों के लिए ही देखती हूं। हां, पहले से पता होता तो इस खबर को ज़रूर पढ़ती।

वहां जाने की मेरी ज़रा भी इच्छा नहीं थी पर इनके आगे मेरी एक न चली। पूरे रास्ते मेरा मन धक्-धक् करता रहा है कि वहां जाकर आखिर कहूंगी क्या? ऐसा लग रहा था जैसे किसीके यहां मातमपुरसी पर जा रही हूं। यह प्रसंग तो उससे भी कठिन था। कहीं वह यह न समझ लें कि मैं तमाशा देखने आ गई हूं।

पता एकदम ठीक था, घर ढूंढने में ज्यादा दिक्कत नहीं हुई। लेकिन

गाडी के रुकते ही आसपास की खिडकियों में इतनी सारी आंखें टंग गई थीं कि मैं नर्वस हो उठी। बन्द दरवाज़े पर धीरे से दस्तक देते हुए मैंने मोहन से कहा, "तुम गाडी उधर कहीं चौड़े मे पार्क कर लेना। यहा तो सारा रास्ता ही घिर गया है।"

"अरे, आप हैं।" दरवाज़ा खोलते ही मिसेज आचार्य ने पूछा और वह मुझे हाथ पकड़कर भीतर ले गई। शायद बहुत देर बाहर खड़े रहना उन्हें भी अच्छा नहीं लग रहा था। भीतर जाते ही उन्होंने दरवाज़ा बन्द कर लिया और एक अंधेरा-सा कमरे मे भर गया। किसी तरह मिसेज आचार्य के पीछे-पीछे चलती हुई मैं दूसरे कमरे मे पहुंची, जो शायद रसोईघर था। दीवार से टेक लगाए पटरे पर बैठी एक दस-बारह साल की लडकी 'चन्दा मामा' पढ़ रही थी।

"मीनू, उठ तो", उन्होंने कहा और पटरा मेरे आगे बिछाते हुए कहा—"बैठिए न।"

"मीनू ऽ" बाहर के कमरे से एक खरखराती आवाज़ आई।

"क्या है?" बेज़ारी से मीनू ने कहा।

"कौन आया है?"

"मम्मा की सहेली हैं।"

"मोटर में कौन आया है?"

"कहा तो मम्मा की सहेली है।" मीनू ने कहा और धीरे से बीच वाला दरवाज़ा उढ़का लिया। आवाज़ अब भी आ रही थी पर अर्थ-बोध नहीं हो रहा था। "मीनू, चाय बना झटपट।" मिसेज आचार्य ने कहा। दरवाज़ा बन्द होते ही उनके चेहरे का तनाव कम हो गया था।

"चाय-वाय रहने दीजिए—दरअसल मैं देखने आई थी, कहीं आप बीमार तो नहीं?" मैं सफाई से झूठ बोल गई पर इतना कहते-कहते भी मुझे पसीना छूट गया।

उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया। वे कप-प्लेटें निकालती रहीं, मीनू को अच्छी चाय बनाने के निर्देश देती रहीं, उसे स्टोव जलाने मे मदद करती

रहीं। हाथ धोकर जब वह मेरे पास आकर बैठीं तो उन्होंने कोई दूसरा ही विषय छेड़ दिया था। मुझे उस वार्तालाप में जरा भी मजा नहीं आ रहा था। उल्टे कोफ्त हो रही थी। इनपर तो इतना गुस्सा आ रहा था—बस भेज दिया संवेदना प्रकट करने के लिए। अरे, यहां किसीको कोई मलाल भी तो हो पहले। मैंने यह अपेक्षा भी नहीं की थी कि वह मेरे गले में बांहें डालकर रो पड़ेंगी। पर इतनी बड़ी बात हो जाने पर आदमी कम से कम उदास तो होता है। यहां तो बस।

"मम्मा, पापा को दे आऊं?" हमारे सामने दो कप रखते हुए मीनू ने होले से पूछा।

"दे दे।" उनकी आवाज़ में हिकारत स्पष्ट थी।

"पापा, उठिए चाय ले लीजिए।" दूसरे कमरे से मीनू की आवाज़ आई। उत्तर मैं नहीं सुन सकी क्योंकि मिसेज़ आचार्य ने उठकर धीरे से बीच वाला दरवाजा फिर लुढ़का लिया था।

"बीमार हैं?" मैंने धीरे से पूछा।

"हां।"

"कब से?"

"बरसों से।" इस अप्रत्याशित जवाब पर मैं चौंककर रह गई। कमरे में घुसते ही जो एक भभका-सा मेरी नाक में घुसा था उसका रहस्य अब खुला। अब उस घुटन-भरे वातावरण में बैठना मेरे लिए असह्य हो गया। किसी तरह चाय पान समाप्त करके मैं उठ खड़ी हुई, "चलूंगी मैं अब, घर पर बच्चे घबरा रहे होंगे। हरीराम भी पता नहीं अब तक आया भी कि नहीं।"

उन्होंने कुछ देर और बैठने का अनुरोध नहीं किया। सुपारी कतरती हुई बोलीं, "चलिए, आपको गाड़ी तक छोड़ आऊं।"

"कौन है?" बाहर वाले कमरे में पैर रखते ही प्रश्न हुआ।

"मैं हूं। बहनजी को सड़क तक छोड़ने जा रही हूं।" उन्होंने जवाब दिया और मुझे लेकर सड़क पर आ गईं। मीनू हमलोगों के पीछे दरवाजे

तक आई थी। "मम्मा, जल्दी आना" उसने कातर स्वर में कहा।

"मीनू!" उसी कर्कश स्वर में अन्दर से, बुलाहट हुई। "मेरी स्नफ की डिबिया कहा है?"

"मिसेज आचार्य!" कुछ दूर तक चलने के बाद मैंने कहा "आपके मिस्टर की आइसाइट क्या बहुत खराब है?"

"बहुत ज्यादा।"

"क्या शुरू से ही है या..."

"शुरू से तो नहीं थी। भाग्य की यह मेहरबानी तो इन लड़कियों के जन्म के बाद हुई है।"

"कोई एक्सीडेंट हुआ था?"

"हा, एक्सीडेंट ही समझिए। आनन्द केमिकल्स में अच्छी नौकरी थी। एक दिन लेबोरेटरी में पता नहीं कैसा विस्फोट हो गया? चार-पांच लोग घायल हो गए। इनकी तो आखें ही जाती रही।"

"कम्पनी ने मुआवजा तो दिया होगा?"

"दिया था न! उसीके सहारे तो ट्रेनिंग की। उसीकी कृपा से तो यह दो कमरों का घर बच रहा। नही तो इसे भी बेचना पडता।"

"आपके हस्बैंड अब कुछ नहीं करते?"

"करते है! मेरी चौकीदारी करते हैं।"

"नहीं, मेरा मतलब था, आजकल काफी व्यवसाय चल पड़े है।" मैंने बिना वजह सकुचाते हुए कहा।

"मैं समझ गई आपका मतलब, लेकिन बहनजी, काम तो करने वाले के लिए होते हैं। और कुछ नही तो घर बैठे ट्यूशन ही कर सकते थे। एम० एस०-सी० पास हैं। पर आंखे गई तो नौकरी छूट गई। नौकरी छूट गई तो दिल टूट गया—अपने पास तो दिल है ही नही। टूटने का सवाल ही नहीं उठता। ग्यारह साल से इस गृहस्थी की गाड़ी खींच रही हू मैं। सीता का बनवास तो चौदह साल मे पूरा हो गया था। मुझे कितने दिन भुगतना है, ईश्वर ही जानता है।"